प्राकृत भारती प्रकाशन : १२ :

जैन, बौद्ध और गीता का समाज दर्शन

लेखक

डा० सागरमल जैन

निदेशक

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

वाराणसी

प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

प्रकाशक

१. प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर (राजस्थान)

प्राप्तिस्थान

१. नरेन्द्रकुमार सागरमल सराफा, शाजापुर (म० प्र०)

२. मोतीलाल बनारसीदास, चौक वाराणसी-१

३. पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान, आई० टी० आई० रोड, वाराणसी-५

४. प्राकृत भारती संस्थान, यति श्यामलालजी का उपाश्रय,
मोतीसिंह भोमियों का रास्ता, जयपुर-३०२००२

प्रकाशन वर्ष

सन् १९८२

वीर निर्वाण सं० २५०८

मूल्य : सोलह रुपये मात्र

मुद्रक

बाबूलाल जैन फागुल्ल

महावीर प्रेस,

भेलूपुर, वाराणसी-५

समर्पण

पूज्य पिताजी श्री राजमल जी शक्करवाले

एवं

मातु श्री गंगाबाई

के

चरणों में

सादर एवं सविनय

सर्मापित

प्रकाशकीय

प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, (राजस्थान) के द्वारा 'जैन, बौद्ध और गीता का समाज दर्शन' नामक पुस्तक प्रकाशित करते हुए हमें अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

आज के युग में जिस सामाजिक चेतना, सहिष्णुता और सह-अस्तित्व की आवश्यकता है, उसके लिए धर्मों का समन्वयात्मक दृष्टि से निष्पक्ष तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है, ताकि समाज के बीच बढ़ती हुई खाई को पाटा जा सके और मनुष्य समरस जीवन जी सके। इस दृष्टिबिन्दु को लक्ष्य में रखकर पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के निदेशक एवं भारतीय धर्म-दर्शन के प्रमुख विद्वान् डा० सागरमल जैन ने जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों पर एक बृहद्काय शोध-प्रबन्ध आज से लगभग १५ वर्ष पूर्व लिखा था। उसी के समाज दर्शन से सम्बन्धित कुछ अध्यायों एवं अन्य लेखों से प्रस्तुत ग्रन्थ की सामग्री का प्रणयन किया गया है। हमें आशा है कि शीघ्र ही उनका महाप्रबन्ध प्रकाश में आयेगा, किन्तु उसके पूर्व परिचय के रूप में यह लघु पुस्तक पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं ताकि वे उनके विद्वत्तापूर्ण प्रयास का कुछ आस्वाद ले सकें।

प्राकृत भारती द्वारा इसके पूर्व भी भारतीय धर्म, आचारशास्त्र एवं प्राकृत भाषा के ११ ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है, उसी क्रम में यह उसका १२वाँ प्रकाशन है। इसके प्रकाशन में हमें लेखक का विविध रूपों में जो सहयोग मिला है उसके लिए हम उनके आभारी हैं। महावीर प्रेस, भेलूपुर ने इसके मुद्रण कार्य को सुन्दर एवं कलापूर्ण ढंग से पूर्ण किया, एतदर्थ हम उनके भी आभारी हैं।

देवेन्द्रराज मेहता — सचिव
विनयसागर — संयुक्त सचिव
प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर (राजस्थान)

प्राक्कथन

समाज दर्शन दर्शनशास्त्र की एक नवीन शाखा है। प्राचीन दार्शनिक जैसे प्लेटो, अरस्तु आदि ने अपने दार्शनिक चिन्तन में समाज से सम्बन्धित अवधारणाओं, मान्यताओं, नियमों एवं सिद्धान्तों का विवेचन, विश्लेषण एवं मूल्यांकन तो किया है किन्तु उनके दर्शन में समाज दर्शन को एक स्वतंत्र शाखा के रूप में स्थान नहीं मिला है। दर्शन जगत् में इसे स्वतंत्र शाखा के रूप में विकसित हुए अभी बहुत समय नहीं हुआ है फिर भी इसकी आवश्यकता एवं महत्ता के कारण दार्शनिक चिन्तन धारा में इसे एक विशिष्ट स्थान प्राप्त हो गया है। यही कारण है कि अनेक दार्शनिक समाजदर्शन को अपने चिन्तन का मुख्य विषय मानने लगे हैं और इसकी विविध समस्याओं एवं विविध प्रश्नों को लेकर अनेक शोध कार्य एवं स्वतंत्र अध्ययन हो रहे हैं तथा अनेक ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुके हैं। फिर भी यह कहना पड़ता है कि इन अध्ययनों में पाश्चात्य चिन्तकों एवं दार्शनिकों की दृष्टि को ही विशेष महत्त्व मिला है, भारतीय विचार धारा को आधार मानकर इस विषय पर अभी बहुत कम अध्ययन हुए हैं।

भारतीय चिन्तन के साहित्य में समाज दर्शन के विविध पक्षों से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री है किन्तु इस तथ्य को सम्यक् रूप में उद्घाटित करने वाले अध्ययनों की बहुत कमी है। प्रस्तुत ग्रन्थ इस कमी की पूर्ति की दिशा में एक सफल एवं सशक्त प्रयास है। इसमें जैन, बौद्ध एवं गीता के आधार पर समाज दर्शन से सम्बन्धित विविध पक्षों एवं समस्याओं का विवेचन, विश्लेषण एवं मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ के लेखक डॉ० सागरमल जैन (निदेशक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी) न केवल भारतीय दर्शन के लब्धप्रतिष्ठ पण्डित हैं अपितु पाश्चात्य दर्शन एवं विशेष रूप से समाज दर्शन के भी ख्यातिलब्ध विद्वान् हैं। यह अध्ययन समाज दर्शन के क्षेत्र में नवीन होते हुए भी विद्वत्तापूर्ण, गम्भीर एवं विचारोत्पादक है। इस अध्ययन के आधार के रूप में जैन, बौद्ध और गीता को लिया गया है, जो स्वतन्त्र रूप से तीन अवस्थाओं एवं तीन परम्पराओं से सम्बन्धित हैं जिनमें भारतीय समाज की समग्रता सन्निविष्ट है। इसलिए यह ग्रन्थ भारतीय समाजदर्शन का समग्र अध्ययन न होते हुए भी इसका प्रतिनिधित्व करने में सक्षम है।

भारतीय समाज दर्शन की विषय वस्तु एवं क्षेत्र के समुचित निर्धारण न होने के कारण यह कहना कठिन है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में भारतीय समाज दर्शन के समस्त पहलुओं का समावेश हो सका है अथवा नहीं। फिर भी इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि

इसमें भारतीय समाजदर्शन के अधिकांश पहलुओं एवं समस्याओं का समावेश किया गया है। विद्वान् लेखक ने भारतीय चिन्तन के प्राचीन युग को वैदिक युग, औपनिषदिक युग एवं जैन बौद्ध युग में विभक्त कर सामाजिक चेतना के विकास का विवेचन प्रस्तुत किया है। स्वार्थ एवं परार्थ की अवधारणा में विरोध-दृष्टि पाश्चात्य नीतिशास्त्रीय चिन्तकों को परस्पर विरोधी दो वर्गों में विभक्त करती है। हाब्स, नीत्से आदि स्वार्थ को मानव के लिए परम स्पृहणीय मानकर स्वार्थवाद की स्थापना करते हैं और इसे ही नीतिशास्त्र के श्रेष्ठ एवं समुचित सिद्धान्त होने का दावा करते हैं। इसके विपरीत मिल, बेन्थम आदि परार्थ को मानव के लिए अनुपेक्षणीय एवं अपरिहार्य मानकर परार्थवाद की स्थापना करते हैं और इसे नैतिकता के मूल्यांकन का उत्कृष्ट मानदण्ड मानते हैं। भारतीय चिन्तन धारा में स्वार्थ एवं परार्थ में विरोध न देखकर सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है। लेखक ने स्वहित बनाम लोकहित में बाह्य विरोध प्रदर्शन के साथ आन्तरिक सामञ्जस्य की पुष्टि बड़ी कुशलता के साथ की है।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था का आधार स्तम्भ वर्णाश्रम व्यवस्था है। इसमें मुख्य रूप से वर्णव्यवस्था को वैदिक परम्परा की देन माना जाता है और यह भी मान्यता देखने को मिलती है कि श्रमण परम्परा का विकास इस वर्ण व्यवस्था की विरोधी प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। किन्तु विद्वान् लेखक ने सप्रमाण यह प्रदर्शित किया है कि वर्ण व्यवस्था न केवल ब्राह्मण परम्परा में मान्य रही है अपितु समान रूप से यह श्रमण परम्परा में भी स्वीकृत रही है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ ब्राह्मण परम्परा में वर्ण के निर्धारण की कसौटी के रूप में जन्म एवं कर्म सम्बन्धी विवाद बहुत काल तक चलता रहा है वहाँ जैनाचार्यों एवं बौद्धाचार्यों ने निर्विवाद रूप से वर्ण निर्धारण की कसौटी के रूप में कर्म को स्वीकार कर लिया है। इसी संदर्भ में स्वधर्म के निर्धारण का प्रश्न भी अपनी जटिलता के साथ उपस्थित होता है। वर्ण व्यवस्था को अपरिवर्तनशील एवं स्थिर मानने वाली वैदिक परम्परा के लिए स्वधर्म की व्याख्या अत्यधिक सहज एवं सरल रूप में हो जाती है। वहाँ वर्ण के लिए विहित कर्मों को वर्णावलम्बी व्यक्ति का स्वधर्म मान लिया जाता है किन्तु वर्ण को परिवर्तनीय एवं अस्थिर माननेवाली जैन एवं बौद्ध परम्परा के लिए स्वधर्म की व्याख्या एक जटिल समस्या का रूप ग्रहण कर लेती है। इन सभी प्रश्नों का लेखक ने गम्भीरता से विश्लेषण एवं विवेचन करने का प्रयास किया है।

भारतीय समाज दर्शन की मौलिक विशेषता के रूप में लेखक ने सामाजिक नैतिकता के केन्द्रीय तत्त्व का विवेचन बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से किया है। इसके अन्तर्गत् अहिंसा, अनाग्रह एवं अपरिग्रह की भावना को विशेष महत्त्व प्रदान किया है तथा यह दिखलाने का प्रयास किया है कि सामाजिक जीवन के विविध आयामों में इन भावनाओं का उपयोग किस प्रकार होता रहा है। साथ ही साथ सामाजिक धर्म एवं सामाजिक दायित्व

का विस्तार पूर्वक विवेचन कर लेखक ने भारतीय समाजदर्शन पर व्यक्तिवादिता के किसी आरोप का स्थान नहीं रहने दिया है। इस प्रकार सामाजिक चेतना से सामाजिक दायित्व तक सम्पूर्ण सामाजिक परिधि का निरूपण बड़ी सरलता एवं सजीवता के साथ किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ दर्शनशास्त्र के उन स्नातकोत्तर विद्यार्थियों, शोध छात्रों, विद्वानों एवं जिज्ञासुओं के लिए अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होगा, जो भारतीय समाज दर्शन का अध्ययन करते हैं या उसमें रुचि रखते हैं। इस प्रकार के उच्चस्तरीय शोध पर आधारित प्रामाणिक ग्रन्थ का प्रणयन कर डॉ० सागरमल जैन ने भारतीय समाजदर्शन के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। इसके लिए सहृदय एवं विचारशील दार्शनिक समुदाय उनका हृदय से आभारी होगा।

डा० रघुनाथ गिरि
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष दर्शन विभाग
संकायाध्यक्ष, मानविकी संकाय, काशी विद्यापीठ वाराणसी

लेखकीय

व्यक्ति समाज का अंग है, समाज से अलग होकर उसका व्यक्तित्व खंडित हो जाता है। वह जो कुछ है, समाज से ही निर्मित है। मानव शिशु तो इतना असहाय होता है कि वह सामाजिक संरक्षण और सामाजिक सहयोग के बिना अपना अस्तित्व नही रख सकता। हमारी भाषा और हमारा जीवन व्यवहार हमें समाज से ही मिला है। वस्तुत: व्यक्ति और समाज एक दूसरे से अलग अकल्पनीय है। समाज के बिना व्यक्ति की और व्यक्ति के बिना समाज की कोई सत्ता ही नहीं रहती। समाज व्यक्ति से ही निर्मित होता है। व्यक्ति और समाज को एक दूसरे से पृथक् रूप में चाहे विचारा जा सकता हो किन्तु उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। एक ओर व्यक्तियों के अभाव में समाज की कोई यथार्थ सत्ता नहीं रहती, दूसरी ओर व्यक्ति से यदि वह सब अलग कर दिया जाय जो उसे समाज से मिला है तो वह व्यक्ति नहीं रह जाता। मनुष्य में सामाजिकता की चेतना ही एक ऐसा तत्त्व है जो व्यक्ति को पशुत्व के स्तर से ऊपर उठाती है। ब्रेडले ने ठीक ही कहा था कि मनुष्य नहीं है यदि वह सामाजिक नहीं है। मानवीय सभ्यता के इतिहास का प्रारम्भ उसकी सामाजिक चेतना के विकास के साथ ही होता है। वस्तुत: व्यक्ति और समाज अपने अस्तित्व की दृष्टि से एक सिक्के के दो पहलुओं के समान है, जिन्हें अलग-अलग देखा तो जा सकता है किन्तु अलग किया नहीं जा सकता। जैनदर्शन की भाषा में कहें तो व्यक्ति और समाज अन्योन्याश्रित है, उनमें कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद रहा हुआ है।

वे सभी दार्शनिक विचारधाराएँ जो व्यक्ति की उपेक्षा करके समाज कल्याण की बात करती हैं अथवा समाज की उपेक्षा करके व्यक्ति के कल्याण की बात करती हैं, यथार्थ से दूर हैं।

वर्तमान जीवन में जो संकट और दुःख हैं उनके निराकरण की सामर्थ्य न तो व्यक्तिवाद में है और न समाजवाद में ही। व्यक्ति के सुधार के बिना समाज के सुधार की कल्पना एक मृगमरीचिका से अधिक नहीं है। किन्तु यदि हम व्यक्ति को नैतिक बनाना चाहते हैं तो हमें सामाजिक परिवेश में भी सुधार करना होगा, जिससे व्यक्ति की नैतिकता के प्रति आस्था बनी रहे। यदि सामाजिक जीवन भ्रष्ट और नैतिक मूल्यों के प्रति अनास्थावान् हो तो किसी व्यक्ति विशेष से नैतिक बनने की अपेक्षा करना व्यर्थ है। व्यक्ति के सुधार के बिना समाज का सुधार और सामाजिक परिवेश के सुधार के बिना व्यक्ति का सुधार सम्भव नहीं है। आज के युग में नैतिक चेतना का विकास सामाजिक परिवेश में बिना परिवर्तन के सम्भव ही नहीं है। एक भ्रष्ट समाज व्यवस्था

में किसी अकेले व्यक्ति का नैतिक बन पाना यदि अशक्य नहीं तो सहज सम्भव भी नहीं है। आज व्यक्ति और समाज-सुधार के लिए एक दोहरे प्रयत्न की आवश्यकता है। व्यक्ति और समाज दोनों के सुधार के सामूहिक प्रयत्नों के बिना आज की दूषित एवं भ्रष्ट सामाजिक स्थिति से छुटकारा पाना असम्भव है।

आज एक ओर समाजवादी विचारधारा समाज को प्रमुखता देकर व्यक्ति को गौण बनाती है तो दूसरी ओर प्रजातन्त्रवादी विचारधारा व्यक्ति को प्रमुख बनाकर समाज को गौण बनाती है, किन्तु दोनों की विचारधाराएँ आज अपने अभीप्सित लक्ष्य को पाने में सफल नहीं है। मानव को जो अपेक्षित है वह उसे न तो रूस और चीन की समाजवादी व्यवस्थाएँ ही दे सकी है और न अमेरिका का प्रजातन्त्र ही। यदि हम मानवता को अपनी इच्छित सुख और शान्ति देना चाहते हैं तो हमें व्यक्ति और समाज दोनों को परस्परोपजीवी और सममूल्यवाला मानकर आगे चलना होगा। केवल व्यक्ति-सुधार के प्रयत्न और केवल समाज-सुधार के प्रयत्न तब तक सफल नहीं होंगे जब तक व्यक्ति और समाज दोनों के समवेत सुधार के प्रयत्न नही होंगे।

वस्तुतः व्यक्ति और समाज के बीच का यह द्वन्द्व काफी पुराना है और इसके कारण सामाजिक दर्शन में अनेक समस्याएँ उठी हैं। व्यक्ति और समाज में कौन प्रथम है यह तो एक चिरन्तन समस्या है ही किन्तु इसके साथ ही जुड़ी हुई दूसरी समस्या है स्वहित और लोकहित के प्रश्न की। सामान्यतया स्वहित और लोकहित में एक विरोध देखा गया है किन्तु यह विरोध उन्हीं लोगों के लिए है जो व्यक्ति और समाज को एक दूसरे से पृथक् देखते हैं। जो व्यक्ति और समाज को एक समग्रता मानते हैं और उन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं मानते उनके लिए यह प्रश्न खड़ा ही नहीं होता। स्वहित और लोकहित वस्तुतः उसी तरह एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित हैं जैसे व्यक्ति और समाज।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में प्राचीनकाल से ही समाज-दर्शन के सन्दर्भ तो उपस्थित हैं किन्तु उनकी सम्यक् अभिव्यक्ति के बहुत ही कम प्रयास हुए हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में भारतीय सामाजिक चेतना को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। दूसरे अध्याय में स्वहित और लोकहित की समस्या का विवेचन किया गया है। तीसरे अध्याय में वर्णाश्रम की अवधारणा को स्पष्ट किया गया है। चौथे अध्याय में स्वधर्म की अवधारणा पर विचार किया गया है। पांचवाँ अध्याय समाज जीवन के आधारभूत सिद्धान्तों के रूप में अहिंसा, अनाग्रह (वैचारिक सहिष्णुता) और अपरिग्रह (आर्थिक सम-वितरण) का विवेचन करता है। अन्तिम अध्याय में सामाजिक दायित्वों और कर्तव्यों की चर्चा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन दार्शनिक त्रैमासिक एवं सुधर्मा आदि पत्रिकाओं में मेरे प्रकाशित लेखों एवं मेरे शोध प्रबन्ध 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' के कुछ अध्यायों को लेकर किया गया है। प्रस्तुत

तुलनात्मक अध्ययन में मुझे उपाध्याय श्री अमरमुनिजी, पं० सुखलाल जी, पं० दलसुखभाई मालवणिया आदि के लेखनों से पर्याप्त दृ ट मिली हैं, अतः उनके प्रति और उनके अतिरिक्त भी जिन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का प्रत्यक्ष या परोक्षरूप में सहयोग मिला हैं उन सबके प्रति हृदय से आभारी हूँ। अपने गुरुजन डा० सी० पी० ब्रह्मो एवं डा० सदाशिव बनर्जी के प्रति भी आभार प्रकट करना मेरा अपना कर्तव्य है। काशी विद्यापीठ के दर्शन विभागाध्यक्ष डा० रघुनाथ गिरि का भी मै आभारी हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ का प्राक्कथन लिखने की कृपा की।

प्राकृत भारती संस्थान के सचिव श्री देवेन्द्रराज मेहता एवं श्री विनयसागरजी के भी हम अत्यन्त अभारी हैं, जिनके सहयोग से यह प्रकाशन सम्भव हो सका है। महावीर प्रेस ने जिस तत्परता और सुन्दरता से यह कार्य सम्पन्न किया है उसके लिए उनके प्रति आभार व्यक्त करना हमारा कर्तव्य है। अन्त में हम पार्श्वनाथ विद्याश्रम परिवार के श्री जमनालालजी जैन, डा० हरिहर सिंह, श्री मोहन लाल जी, श्री मंगल प्रकाश मेहता तथा शोध छात्र श्री रविशंकर मिश्र, श्री अरुण कुमार सिंह, श्री भिखारी राम यादव और श्री विजय कुमार जैन के भी आभारी हैं, जिनसे विविधरूपों में सहायता प्राप्त होती रही है। अन्तमें पत्नी श्रीमती कमला जैन का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ, जिसके त्याग एवं सेवा भाव ने मुझे पारिवारिक उलझनों से मुक्त रखकर विद्या की उपासना का अवसर दिया।

वाराणसी, ९-१०-८२

सागरमल जैन

विषय-सूची

१ भारतीय दर्शन में सामाजिक चेतना

भारतीय दर्शन में सामाजिक चेतना का विकास

भारतीय दार्शनिक चिन्तन मे उपस्थित सामाजिक सन्दर्भो को समझने के लिए सर्वप्रथम हमें यह जान लेना चाहिए, कि केवल कुछ दार्शनिक प्रस्थान ही सम्पूर्ण भारतीय प्रज्ञा एवं भारतीय चिन्तन का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं, इन दार्शनिक प्रस्थानों से हटकर भी भारत में दार्शनिक चिन्तन हुआ है और उसमें अनेकानेक सामाजिक संदर्भ उपस्थित हैं। दूसरे यह कि भारतीय दर्शन मात्र बौद्धिक एवं सैद्धान्तिक ही नहीं है, वह अनुभूत्यात्मक एवं व्यावहारिक भी है; कोई भी भारतीय दर्शन ऐसा नहीं है जो मात्र तत्त्वमीमांसीय (Metaphysical) एवं ज्ञान-मीमांसीय (Epistomological) चिन्तन से ही संतोष धारण कर लेता हो। उसमें ज्ञान ज्ञान के लिए नहीं, अपितु जीवन के सफल संचालन के लिए है। उसका मूल दुःख की समस्या में है। दुःख और दुःख-मुक्ति यही भारतीय दर्शन का 'अथ' और 'इति' है। यद्यपि तत्त्व-मीमांसा और ज्ञान-मीमांसा प्रत्येक भारतीय दार्शनिक प्रस्थान के महत्त्वपूर्ण अंग रहे हैं, किन्तु वे सम्यक् जीवनदृष्टि के निर्माण और सामाजिक व्यवहार की शुद्धि के लिए हैं। भारतीय चिन्तन में दर्शन की धर्म और नीति से अवियोज्यता उसके सामाजिक सन्दर्भ को और भी स्पष्ट कर देती है। यहाँ दर्शन जानने की नहीं, अपितु जीने की वस्तु रहा है: वह मात्र ज्ञान नहीं, अनुभूति है और इसीलिए वह फिलासफी नहीं, दर्शन है, जीवन जीने का एक सम्यक् दृष्टिकोण है।

यद्यपि हमारा दुर्भाग्य तो यह रहा कि मध्य-युग में दर्शन साधकों और ऋषि मुनियों के हाथों से निकलकर तथा-कथित बुद्धिजीवियों के हाथों में चला गया। फलतः उसमें तार्किक पक्ष प्रधान तथा अनुभूतिमूलक साधना एवं आचार-पक्ष गौण हो गया और हमारी जीवन-शैली से उसका रिश्ता धीरे-धीरे टूटता गया।

सामाजिक चेतना के विकास की दृष्टि से भारतीय चिन्तन के प्राचीन युग को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं :—

१. वैदिक युग,
२. औपनिषदिक युग, एवं
३. जैन-बौद्ध युग

वैदिक युग में जनमानस में सामाजिक चेतना को जाग्रत करने का प्रयत्न किया गया, जबकि औपनिषदिक युग में सामाजिक चेतना के लिए दार्शनिक आधार का प्रस्तुतिकरण किया गया और जैन-बौद्ध युग में सामाजिक सम्बन्धों के शुद्धिकरण पर बल दिया गया।

वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों ही मानवीय 'स्व' के अनिवार्य अंग हैं। पाश्चात्य विचारक ब्रैडले का कथन है कि 'मनुष्य नहीं है, यदि वह सामाजिक नहीं, किन्तु यदि वह मात्र सामाजिक ही है, तो वह पशु से अधिक नहीं है। मनुष्य की मनुष्यता वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों का अतिक्रमण करने में है। वस्तुतः मनुष्य एक ही साथ सामाजिक और वैयक्तिक दोनों ही है। क्योंकि मानव व्यक्तित्व में राग-द्वेष के तत्त्व अनिवार्य रूप से उपस्थित हैं। राग का तत्त्व उसमें सामाजिकता का विकास करता है, तो द्वेष का तत्त्व उसमें वैयक्तिकता या स्व-हितवादी दृष्टि का विकास करता है। जब राग का सीमाक्षेत्र संकुचित होता है और द्वेष का अधिक विस्तरित होता है, तो व्यक्ति को स्वार्थी कहा जाता है, उसमें वैयक्तिकता प्रमुख होती है। किन्तु जब राग का सीमाक्षेत्र विस्तरित होता है और द्वेष का क्षेत्र कम होता है, तब व्यक्ति परोपकारी या सामाजिक कहा जाता है। किन्तु जब वह वीतराग और वीतद्वेष होता है, तब वह अतिसामाजिक होता है। किन्तु अपने और पराये भाव का यह अतिक्रमण असामाजिक नहीं है। वीतरागता की साधना में अनिवार्य रूप से 'स्व' की संकुचित सीमा को तोड़ना होता है। अतः ऐसी साधना अनिवार्य रूप से असामाजिक तो नहीं हो सकती है। साथ ही मनुष्य जब तक मनुष्य है, वह वीतराग नहीं हुआ है, तो स्वभावतः ही एक सामाजिक प्राणी है। अतः कोई भी धर्म सामाजिक चेतना से विमुख होकर जीवित नहीं रह सकता।

वेदों एवं उपनिषदों में सामाजिक चेतना

भारतीय चिन्तन की प्रवर्तक वैदिक धारा में सामाजिकता का तत्त्व उसके प्रारम्भिक काल से ही उपस्थित है। वेदों में सामाजिक जीवन की संकल्पना के व्यापक सन्दर्भ हैं। वैदिक ऋषि सफल एवं सहयोगपूर्ण सामाजिक जीवन के लिए अभ्यर्थना करते हुए कहता है कि 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्'—तुम मिलकर चलो, मिलकर बोलो, तुम्हारे मन साथ-साथ विचार करें; अर्थात् तुम्हारे जीवन व्यवहार में सहयोग, तुम्हारी वाणी में समस्वरता और तुम्हारे विचारों में समानता हो।[१] आगे पुनः वह कहता है:—

समानो मन्त्रः समितिः समानी,
समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

अर्थात् आप सबके निर्णय समान हों, आप सबकी सभा भी सबके लिए समान हो, अर्थात् सबके प्रति समान व्यवहार करे। आपका मन भी समान हो और आपकी चित्त-वृत्ति भी समान हो, आपके संकल्प एक हों, आपके हृदय एक हों, आपका मन भी एक-रूप हो ताकि आप मिलजुल कर अच्छी तरह से कार्य कर सकें।[२] सम्भवतः सामाजिक जीवन एवं समाज-निष्ठा के परिप्रेक्ष्य में वैदिक युग के भारतीय चिन्तक के ये सबसे महत्त्व-पूर्ण उद्गार हैं। वैदिक ऋषियों का 'कृण्वंतो विश्वमार्यम्' के रूप में एक सुसभ्य एवं सुसंस्कृत मानव-समाज की रचना का मिशन तभी सफल हो सकता था जबकि वे जन-जन में

१. ऋग्वेद १०।१९१।२ २. वही, १०।१९२।३-४

समाज-निष्ठा के बीज का वपन करते। सहयोगपूर्ण जीवन-शैली उनका मूल मंतव्य था। प्रत्येक अवसर पर शांति-पाठ के माध्यम से वे जन-जन में सामाजिक चेतना के विकास का प्रयास करते थे। वे अपने शांति-पाठ में कहते थे:—

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्य करवावहै,
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।[1]

हम सब साथ-साथ रक्षित हों, साथ-साथ पोषित हों, साथ-साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम आपस में विद्वेष न करें। वैदिक समाज दर्शन का आदर्श था—'शत-हस्तः समाहर, सहस्रहस्तः सोकर' सैकड़ों हाथों से इकट्ठा करो और हजार हाथों से बांटो। किन्तु यह बाँटने की बात दया या कृपा नहीं है अपितु सामाजिक दायित्व का बोध है। क्योंकि भारतीय चिंतन में दान के लिए संविभाग शब्द का प्रयोग होता रहा है, इसमें सम वितरण या सामाजिक दायित्व का बोध ही प्रमुख है, कृपा, दया, करुणा ये सब गौण हैं। आचार्य शंकर ने दान की व्याख्या की है 'दानं संविभागं'। जैन दर्शन में तो अतिथि-संविभाग के रूप में एक स्वतन्त्र व्रत की व्यवस्था की गई है। संविभाग शब्द करुणा का प्रतीक न होकर सामाजिक अधिकार का प्रतीक है। वैदिक ऋषियों का निष्कर्ष था कि जो अकेला खाता है वह पापी है (केवलादो भवति केवलादी) जैन दार्शनिक भी कहते थे 'असंविभागी न हु तस्स मोक्खो' जो सम-विभागी नहीं है उसकी मुक्ति नहीं होगी। इस प्रकार हम वैदिक युग में सहयोग एवं सहजीवन का संकल्प उपस्थित पाते हैं। किन्तु उसके लिए दार्शनिक आधार का प्रस्तुतिकरण औपनिषदिक चिन्तन में ही हुआ है। औपनिषदिक ऋषि 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' तथा 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' के रूप में एकत्व की अनुभूति करने लगा। औपनिषदिकचिन्तन में वैयक्तिकता से ऊपर उठकर सामाजिक एकता के लिए अभेद-निष्ठा का सर्वोत्कृष्ठ तात्त्विक आधार प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार जहाँ वेदों की समाज-निष्ठा बहिर्मुखी थी, वही उपनिषदों में आकर अन्तर्मुखी हो गयी। भारतीय दर्शन में यह अभेद-निष्ठा ही सामाजिक एकत्व की चेतना एवं सामाजिक समता का आधार बनी है। ईशावास्योपनिषद् का ऋषि कहता था:—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥[2]

जो सभी प्राणियों को अपने में और अपने को सभी प्राणियों में देखता है वह अपनी इस एकात्मता की अनुभूति के कारण किसी से घृणा नहीं करता है। सामाजिक जीवन के विकास का आधार एकात्मता की अनुभूति है और जब एकात्मता की दृष्टि का विकास हो

१. तैत्तिरीय आरण्यक ८।२ २. ईश ६

जाता है तो घृणा और विद्वेष के तत्त्व स्वतः समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार जहाँ एक ओर औपनिषदिक ऋषियों ने एकात्मता की चेतना को जाग्रत कर सामाजिक जीवन के विनाशक घृणा एवं विद्वेष के तत्त्वों को समाप्त करने का प्रयास किया, वहीं दूसरी ओर उन्होंने सम्पत्ति के वैयक्तिक अधिकार का निरसन कर ईश्वरी सम्पदा अर्थात् सामूहिक सम्पदा का विचार भी प्रस्तुत किया। ईशावास्योपनिषद् के प्रारम्भ में ही ऋषि कहता है :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥[१]

अर्थात् इस जग में जो कुछ भी है वह सभी ईश्वरीय है ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे वैयक्तिक कहा जा सके। इस प्रकार श्लोक के पूर्वार्द्ध में वैयक्तिक अधिकार का निरसन करके समष्टि को प्रधानता दी गई है। श्लोक के उत्तरार्द्ध में व्यक्ति के उपभोग एवं संग्रह के अधिकार को मर्यादित करते हुए कहा गया कि प्रकृति की जो भी उपलब्धियाँ हैं उनमें दूसरों (अर्थात् समाज के दूसरे सदस्यों) का भी भाग है। अतः उनके भाग को छोड़कर ही उनका उपयोग करो, संग्रह या लालच मत करो क्योंकि सम्पत्ति किसी एक की नहीं है। सम्भवतः सामाजिक चेतना के विकास के लिए इससे अधिक महत्त्वपूर्ण दूसरा कथन नहीं हो सकता था। यही कारण था कि गांधी जी ने इस श्लोक के सन्दर्भ में कहा था कि भारतीय संस्कृति का सभी कुछ नष्ट हो जाये किन्तु यह श्लोक बना रहे तो यह अकेला ही उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ है। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' में समग्र सामाजिक चेतना केन्द्रित दिखाई देती है।

गीता में सामाजिक चेतना

यदि हम उपनिषदों से महाभारत और उसके ही एक अंश गीता की ओर आते हैं तो यहाँ भी हमें सामाजिक चेतना का स्पष्ट दर्शन होता है। महाभारत तो इतना व्यापक ग्रन्थ है कि उसमें उपस्थित समाज-दर्शन पर एक स्वतन्त्र महानिबन्ध लिखा जा सकता है। सर्वप्रथम महाभारत में हमें समाज की आंगिक संकल्पना का वह सिद्धान्त परिलक्षित होता है, जिस पर पाश्चात्य चिन्तन में सर्वाधिक बल दिया गया है। गीता भी इस एकात्मता की अनुभूति पर बल देती है। गीताकार कहता है कि—

'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः ॥'[२]

अर्थात् जो सुख दुःख की अनुभूति में सभी को अपने समान समझता है वही सच्चा योगी है। मात्र इतना ही नहीं, वह तो इससे आगे यह भी कहता है कि सच्चा दर्शन या ज्ञान वही है जो हमें एकात्मता की अनुभूति कराता है—'अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं

---

१. ईश १ २. गीता ६।३२

विद्धि सात्त्विकम् ।' वैयक्तिक विभिन्नताओं में भी एकात्मता की अनुभूति ही ज्ञान की सात्विकता और हमारी समाज-निष्ठा का एक मात्र आधार है। सामाजिक दृष्टि से गीता 'सर्वभूत-हिते रताः' का सामाजिक आदर्श भी प्रस्तुत करती है। अनासक्त भाव से युक्त होकर लोक-कल्याण के लिए कार्य करते रहना ही गीता के समाज-दर्शन का मूल मन्तव्य है। श्रीकृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं—

'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहितेरताः'[१]

मात्र इतना ही नहीं, गीता मे सामाजिक दायित्वों के निर्वहन पर भी पूरा-पूरा बल दिया गया है जो अपने सामाजिक दायित्वों को पूर्ण किये बिना भोग करता है वह गीताकार की दृष्टि में चोर (स्तेन एव सः ३।१२)। साथ ही जो मात्र अपने लिए पकाता है वह पाप का ही अर्जन करता है। (भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ३।१३)। गीता हमें समाज में रहकर ही जीवन जीने की शिक्षा देती है इसलिए उसने संन्यास की नवीन परिभाषा भी प्रस्तुत की है। वह कहती है कि—

'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः'[२]

काम्य अर्थात् स्वार्थ युक्त कर्मों का त्याग ही संन्यास है, केवल निरग्नि और निष्क्रिय हो जाना संन्यास नहीं है। सच्चे संन्यासी का लक्षण है समाज में रहकर लोककल्याण के लिए अनासक्त भाव से कर्म करता रहे।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥[3]

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि लोक-शिक्षा को चाहते हुए कर्म करता रहे (कुर्यात् विद्वान् तथा असक्तः चिकीर्षुः लोकसंग्रहम्)।[४] गीता में गुणाश्रित कर्म के आधार पर वर्ण-व्यवस्था का जो आदर्श प्रस्तुत किया था वह भी सामाजिक दृष्टि से कर्तव्यों एवं दायित्वों के विभाजन का एक महत्त्वपूर्ण कार्य था, यद्यपि भारतीय समाज का यह दुर्भाग्य था कि गुण अर्थात् वैयक्तिक योग्यता के आधार पर कर्म एवं वर्ण का यह विभाजन किन्हीं निहित स्वार्थों के कारण जन्मना बना दिया गया। वस्तुतः वेदों में एवं स्वयं गीता में भी जो विराट् पुरुष के विभिन्न अंगों से उत्पत्ति के रूप में वर्णों की अवधारणा है वह अन्य कुछ नहीं अपितु समाज-पुरुष के विभिन्न अंगों की अवधारणा है और किसी सीमा तक समाज के आंगिकता सिद्धांत का ही प्रस्तुतीकरण है।

सामाजिक जीवन में विषमता एवं संघर्ष का एक महत्त्वपूर्ण कारण सम्पत्ति का अधिकार है। श्रीमद्भागवत भी ईशावास्योपनिषद् के समान ही सम्पत्ति पर व्यक्ति के अधिकार को अस्वीकार करती है। उसमें कहा गया है:—

---

१. गीता १२।४ २. वही, १८।२ ३. वही, ६।१ ४. वही, ३।२५

यावत् भ्रियेत जठरं, तावत् स्वत्वं देहिनाम् ।
अधिको योऽभिमन्येत, स स्तेनो दण्डमर्हति ।।[1]

अर्थात् अपनी दैहिक आवश्यकता से अधिक सम्पदा पर अपना स्वत्व मानना सामाजिक दृष्टि से चोरी है, अनधिकृत चेष्टा है। आज का समाजवाद एवं साम्यवाद भी इसी आदर्श पर खड़ा है, योग्यता के अनुसार कार्य और आवश्यकता के अनुसार वेतन' की उसकी धारणा यहाँ पूरी तरह उपस्थित है । भारतीय चिन्तन में पुण्य और पाप का, जो वर्गीकरण है, उसमें भी सामाजिक दृष्टि ही प्रमुख है । पाप के रूप में जिन दुर्गुणों का और पुण्य के रूप में जिन सद्‌गुणों का उल्लेख है उनका सम्बन्ध वैयक्तिक जीवन की अपेक्षा सामाजिक जीवन से अधिक है । पुण्य और पाप की एक मात्र कसौटी है—किसी कर्म का लोक-मंगल में उपयोगी या अनुपयोगी होना । कहा भी गया है:—

'परोपकाराय पुण्याय, पापाय परपीडनम्'

जो लोक के लिए हितकर है कल्याणकर है, वह पुण्य है और इसके विपरीत जो भी दूसरों के लिए पीड़ा-जनक है, अमंगलकर है वह पाप है । इस प्रकार भारतीय चिन्तन में पुण्य-पाप की व्याख्याएँ भी सामाजिक दृष्टि पर ही आधारित हैं ।

जैन एवं बौद्धधर्म में सामाजिक चेतना

यदि हम निवर्तक धारा के समर्थक जैनधर्म एवं बौद्धधर्म की ओर दृष्टिपात करते है तो प्रथम दृष्टि में ऐसा लगता है कि इनमें समाज की दृष्टि की उपेक्षा की गई है। सामान्यतया यह माना जाता है कि निवृत्ति-प्रधान दर्शन व्यक्ति-परक और प्रवृत्ति-प्रधान दर्शन समाज-परक होते हैं। किन्तु मान लेना कि भारतीय चिन्तन की निवर्तक धारा के समर्थक जैन, बौद्ध आदि दर्शन असामाजिक हैं या इन दर्शनों में सामाजिक संदर्भ का अभाव है, नितान्त भ्रम होगा। इनमे भी सामाजिक भावना से पराङ्मुखता नहीं दिखाई देती है । ये दर्शन इतना तो अवश्य मानते हैं कि चाहे वैयक्तिक साधना की दृष्टि से एकाकी जीवन लाभप्रद हो सकता है किन्तु उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपभोग सामाजिक कल्याण की दिशा में ही होना चाहिए । महावीर और बुद्ध का जीवन स्वयं इस बात का साक्षी है कि वे ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् जीवन-पर्यन्त लोक-मंगल के लिए कार्य करते रहे । यद्यपि इन निवृत्तिप्रधान दर्शनों में जो सामाजिक सन्दर्भ उपस्थित है, वे थोड़े भिन्न प्रकार के अवश्य हैं । इनमें मूलतः सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि का प्रयास परिलक्षित होता है । सामाजिक सन्दर्भ की दृष्टि से इनमें समाज-रचना एवं सामाजिक दायित्वों की निर्वहण की अपेक्षा समाज-जीवन को दूषित बनाने वाले तत्त्वों के निरसन पर बल दिया गया है । जैन-दर्शन के पंच महाव्रत, बौद्ध दर्शन के पंचशील और योग दर्शन के पंचयमों का

१. श्रीमद्भागवत ७।१४।८

सम्बन्ध अनिवार्यतया हमारे सामाजिक जीवन से ही है। प्रश्नव्याकरणसूत्र नामक जैन आगम में कहा गया है कि 'तीर्थंकर का यह सुकथित प्रवचन सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिए है। पांचों महाव्रत सर्वप्रकार से लोकहित के लिए ही है।'[1] हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, संग्रह (परिग्रह) ये सब वैयक्तिक नहीं, सामाजिक जीवन की दुष्प्रवृत्तियाँ हैं। ये सब दूसरों के प्रति हमारे व्यवहार से संबंधित है। हिंसा का अर्थ है किसी अन्य की हिंसा, असत्य का मतलब है किसी अन्य को गलत जानकारी देना, चोरी का अर्थ है किसी दूसरे की सम्पत्ति का अपहरण करना, व्यभिचार का मतलब है सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध यौन सम्बन्ध स्थापित करना, इसी प्रकार संग्रह या परिग्रह का अर्थ है समाज में आर्थिक विषमता पैदा करना। क्या समाज जीवन के अभाव में इनका कोई अर्थ या संदर्भ रह जाता है? अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की जो मर्यादायें इन दर्शनों ने दीं वे हमारे सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि के लिए ही हैं।

इसी प्रकार जैन, बौद्ध और योग दर्शनों की साधना पद्धति में समान रूप से प्रस्तुत मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ भावनाओं के आधार पर भी सामाजिक संदर्भ को स्पष्ट किया जा सकता है। जैनाचार्य अमितगति इन भावनाओं की अभिव्यक्ति निम्न शब्दों में करते हैं—

सत्त्वेषु मैत्री गुणीषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
मध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव॥[2]

'हे प्रभु, हमारे मनों में प्राणियों के प्रति मित्रता, गुणीजनों के प्रति प्रमोद, दुखियों के प्रति करुणा तथा दुष्ट जनों के प्रति मध्यस्थ भाव सदा विद्यमान रहे।' इस प्रकार इन भावनाओं के माध्यम से समाज के विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों से हमारे सम्बन्ध किस प्रकार के हों यही स्पष्ट किया गया है। समाज में दूसरे लोगों के साथ हम किस प्रकार जीवन जियें यह हमारी सामाजिकता के लिए अति आवश्यक है और इन दर्शनों में इस प्रकार से व्यक्ति को समाज-जीवन से जोड़ने का ही प्रयास किया गया है। इन दर्शनों का हृदय रिक्त नहीं है। इनमें प्रेम और करुणा की अजस्र धारा बह रही है। तीर्थंकर की वाणी का प्रस्फुटन ही लोक की करुणा के लिए होता है (समेच्च लोयं खेयन्ने पव्वइयं)। इसीलिए तो आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं—'सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव', 'हे प्रभो आपका अनुशासन सभी दुःखों का अन्त करने वाला और सभी का कल्याण (सर्वोदय) करने वाला है।' जैन आगमों में प्रस्तुत कुल-धर्म, ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म एवं गण-धर्म भी उसकी समाज-सापेक्षता को स्पष्ट कर देते हैं। त्रिपिटक में भी अनेक संदर्भों में व्यक्ति के विविध सामाजिक सम्बन्धों के आदर्शों का चित्रण

१. प्रश्नव्याकरण १।१।२१-२२ २. सामायिक पाठ (अमितगति)

किया गया है। पारिवारिक और सामाजिक जीवन में हमारे पारस्परिक सम्बन्धों को सुमधुर एवं समायोजनपूर्ण बनाने तथा सामाजिक टकराव के कारणों का विश्लेषण कर उन्हें दूर करने के लिए इन दर्शनों का महत्वपूर्ण योगदान है।

वस्तुतः इन दर्शनों में आचार शुद्धि पर बल देकर व्यक्ति सुधार के माध्यम से समाज-सुधार का मार्ग प्रशस्त किया। इन्होंने व्यक्ति को समाज का केन्द्र माना और इसलिए उसके चरित्र के निर्माण पर बल दिया। वस्तुतः इन दर्शनों के युग तक समाज-रचना का कार्य पूरा हो चुका था अतः इन्होंने मुख्य रूप से सामाजिक बुराइयों को समाप्त करने का प्रयास किया और सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि पर बल दिया।

रागात्मकता और समाज

सम्भवतः इन दर्शनों को जिन आधारों पर सामाजिक जीवन से कटा हुआ माना जाता है उनमें प्रमुख हैं—राग या आसक्ति का प्रहाण, संन्यास या निवृत्तिमार्ग की प्रधानता तथा मोक्ष का प्रत्यय। ये ही ऐसे तत्व हैं जो व्यक्ति को सामाजिक जीवन से अलग करते हैं। अतः भारतीय सदर्भ में इन प्रत्ययों की सामाजिक दृष्टि से समीक्षा आवश्यक है।

सर्वप्रथम भारतीय दर्शन आसक्ति, राग या तृष्णा की समाप्ति पर बल देता है, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या आसक्ति या राग से ऊपर उठने की बात सामाजिक जीवन से अलग करती है। सामाजिक जीवन का आधार पारस्परिक सम्बन्ध है और सामान्यतया यह माना जाता है कि राग से मुक्ति या आसक्ति की समाप्ति तभी सम्भव है जबकि व्यक्ति अपने को सामाजिक जीवन से या पारिवारिक जीवन से अलग कर ले। किन्तु यह एक भ्रान्त धारणा ही है। न तो सम्बन्ध तोड़ देने मात्र से राग समाप्त हो जाता है, न राग के अभाव मात्र से संबंध टूट जाते हैं, वास्तविकता तो यह है, कि राग या आसक्ति की उपस्थिति में हमारे यथार्थ सामाजिक संबंध ही नहीं बन पाते। सामाजिक जीवन और सामाजिक संबंधों की विषमता के मूल में व्यक्ति की राग-भावना ही काम करती है। सामान्यतया राग द्वेष का सहगामी होता है और जब सम्बन्ध राग-द्वेष के आधार पर खड़े होते हैं तो इन संबंधों से टकराहट एवं विषमता स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है। बोधिचर्यावतार में आचार्य शान्तिदेव लिखते हैं:—

> उपद्रवा ये च भवन्ति लोके यावन्ति दुःखानि भयानि चैव ।
> सर्वाणि तान्यात्मपरिग्रहेण तत् किं ममानेन परिग्रहेण ॥
> आत्मानमपरित्यज्य दुःखं त्यक्तुं न शक्यते ।
> यथाग्निमपरित्यज्य दाहं त्यक्तुं न शक्यते ॥

संसार के सभी दुःख और भय एवं तज्जन्य उपद्रव ममत्व के कारण होते हैं। जब तक ममत्व बुद्धि का परित्याग नहीं किया जाता तब तक इन दुःखों की समाप्ति सम्भव नहीं

है। जैसे अग्नि का परित्याग किये बिना तज्जन्य दाह से बचना असम्भव है। राग हमें सामाजिक जीवन से जोड़ता नहीं है, अपितु तोड़ता ही है। राग के कारण मेरा या ममत्व भाव उत्पन्न होता है। मेरे संबंधी, मेरी जाति, मेरा धर्म, मेरा राष्ट्र ये विचार विकसित होते हैं और उसके परिणामस्वरूप भाई-भतीजावाद, जातिवाद साम्प्रदायिकता और संकुचित राष्ट्रवाद का जन्म होता है। आज मानव जाति के सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों में ये ही सबसे अधिक बाधक तत्त्व हैं। ये मनुष्य को पारिवारिक, जातीय, साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर नहीं उठने देते हैं। वे ही आज की विषमता के मूल कारण हैं। भारतीय दर्शन ने राग या आसक्ति के प्रहाण पर बल देकर सामाजिकता की एक यथार्थ दृष्टि ही प्रदान की है। प्रथम तो यह कि राग किसी पर होता है और जो किसी पर होता है वह सब पर नहीं हो सकता है। अतः राग से ऊपर उठे बिना या आसक्ति को छोड़े बिना सामाजिकता की सच्ची भूमिका प्राप्त नहीं की जा सकती। सामाजिक जीवन की विषमताओं का मूल 'स्व' की संकुचित सीमा ही है। व्यक्ति जिसे अपना मानता है उसके हित की कामना करता है और जिसे पराया मानता है उसके हित की उपेक्षा करता है। सामाजिक जीवन में शोषण, क्रूर व्यवहार, घृणा आदि सभी उन्हीं के प्रति किये जाते हैं, जिन्हें हम अपना नहीं मानते हैं। यद्यपि यह बड़ा कठिन कार्य है कि हम अपनी रागात्मकता या ममत्ववृत्ति का पूर्णतया विसर्जन कर सकें किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि उसका एक सीमा तक विसर्जन किये बिना अपेक्षित सामाजिक जीवन का विकास नहीं हो सकता। व्यक्ति का ममत्व चाहे वह व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन या राष्ट्र की सीमा तक विस्तृत हो, हमें स्वार्थ-भावना से ऊपर नहीं उठने देता। स्वहित की वृत्ति चाहे वह परिवार के प्रति हो या राष्ट्र के प्रति, समान रूप से सामाजिकता की विरोधी ही सिद्ध होती है। उसके होते हुए सच्चा सामाजिक जीवन फलित नहीं हो सकता। जिस प्रकार परिवार के प्रति ममत्व का सघन रूप हममें राष्ट्रीय चेतना का विकास नहीं कर सकता उसी प्रकार राष्ट्रीयता के प्रति भी ममत्व सच्ची मानवीय एकता में सहायक सिद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति जब तक राग या आसक्ति से ऊपर नहीं उठता तब तक सामाजिकता का सद्भाव सम्भव नहीं हो सकता। समाज त्याग एवं समर्पण के आधार पर खड़ा होता है अतः वीतराग या अनासक्त दृष्टि ही सामाजिक जीवन के लिए वास्तविक आधार प्रस्तुत कर सकती है और सम्पूर्ण मानव-जाति में सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण कर सकती है। यदि हम सामाजिक सम्बन्धों में उत्पन्न होने वाली विषमता एवं टकराहट के कारणों का विश्लेषण करें तो उसके मूल में हमारी आसक्ति या रागात्मकता ही प्रमुख है। आसक्ति, ममत्व भाव या राग के कारण ही मनुष्य में

---

१. बोधिचर्यावतार ८।१३४-१३५

संग्रह, आवेश और कपटाचार के तत्त्व जन्म लेते हैं। अतः यह कहना उचित ही होगा कि इन दर्शनों ने राग या आसक्ति के प्रहाण पर बल देकर सामाजिक विषमताओं को समाप्त करने एवं सामाजिक समत्व की स्थापना करने में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है। समाज त्याग एवं समर्पण पर खड़ा होता है, जीता है और विकसित होता है, यह भारतीय चिन्तन का महत्वपूर्ण निष्कर्ष है। वस्तुतः आसक्ति या राग तत्त्व की उपस्थिति में सच्ची सार्वभौम सामाजिकता फलित नहीं होती है।

सामाजिकता का आधार राग या विवेक ?

सम्भवतः यहाँ यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि राग के अभाव मे सामाजिक सम्बन्धों को जोड़ने वाला तत्त्व क्या होगा ? राग के अभाव से तो सारे सामाजिक सम्बन्ध चरमरा कर टूट जायेंगे। रागात्मकता ही तो हमें एक-दूसरे से जोड़ती है। अतः राग सामाजिक-जीवन का एक आवश्यक तत्त्व है। किन्तु मेरी अपनी विनम्र धारणा में जो तत्त्व व्यक्ति को व्यक्ति से या समाज से जोड़ता है, वह राग नहीं, विवेक है। तत्त्वार्थसूत्र में इस बात की चर्चा उपस्थित की गई है कि विभिन्न द्रव्य एक-दूसरे का सहयोग किस प्रकार करते हैं। उसमें जहाँ पुद्गल-द्रव्य को जीव-द्रव्य का उपकारक कहा गया है, वहीं एक जीव को दूसरे जीवों का उपकारक कहा गया है 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'[1]। चेतन-सत्ता यदि किसी का उपकार या हित कर सकती है, तो चेतन-सत्ता का ही कर सकती है। इस प्रकार पारस्परिक हित-साधन यह जीव का स्वभाव है और यह पारस्परिक हित-साधन की स्वाभाविक वृत्ति ही मनुष्य की सामाजिकता का आधार है। इस स्वाभाविक-वृत्ति के विकास के दो आधार हैं—एक रागात्मक और दूसरा विवेक। रागात्मकता हमें कहीं से जोड़ती है, तो कहीं से तोड़ती भी है। इस प्रकार रागात्मकता के आधार पर जब हम किसी को अपना मानते हैं, तो उसके विरोधी के प्रति "पर" का भाव भी आ जाता है। राग द्वेष के साथ ही जीता है। वे ऐसे जुड़वा शिशु हैं, जो एक साथ उत्पन्न होते हैं, एक साथ जीते हैं और एक साथ मरते भी हैं। राग जोड़ता है, तो द्वेष तोड़ता है। राग के आधार पर जो भी समाज खड़ा होगा, तो उसमें अनिवार्य रूप से वर्गभेद और वर्णभेद रहेगा ही। सच्ची सामाजिक-चेतना का आधार राग नहीं, विवेक होगा। विवेक के आधार पर दायित्व-बोध एवं कर्तव्य-बोध की चेतना जागृत होगी। राग की भाषा अधिकार की भाषा है, जबकि विवेक की भाषा कर्तव्य की भाषा है। जहाँ केवल अधिकारों की बात होती है, वहाँ केवल विकृत सामाजिकता होती है। स्वस्थ सामाजिकता अधिकार का नहीं, कर्तव्य का बोध कराती है और ऐसी सामाजिकता का आधार 'विवेक' होता है, कर्तव्य-बोध होता है। जैन-धर्म ऐसी ही सामाजिक-चेतना को निर्मित करना चाहता है। जब

१. तत्त्वार्थ ५।२१

विवेक हमारी सामाजिक-चेतना का आधार बनता है, तो मेरे और तेरे की, अपने और पराये की चेतना समाप्त हो जाती है। सभी आत्मवत् होते हैं। जैन-धर्म ने अहिंसा को जो अपने धर्म का आधार माना है, उसका आधार यही आत्मवत् दृष्टि है।

सामाजिक जीवन के बाधक तत्त्व अहंकार और कषाय

सामाजिक सम्बन्ध में व्यक्ति का अहंकार भी बहुत कम महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। शासन की इच्छा या आधिपत्य की भावना इसके प्रमुख तत्त्व हैं, इनके कारण भी सामाजिक-जीवन में विषमता उत्पन्न होती है। शासक और शासित अथवा जातिभेद एवं रंगभेद आदि की श्रेष्ठता-निम्नता के मूल में यही कारण है। वर्तमान में बड़े राष्ट्रों में जो अपने प्रभावक क्षेत्र बनाने की प्रवृत्ति है, उसके मूल में भी अपने राष्ट्रीय अहं की पुष्टि का प्रयत्न है। स्वतन्त्रता के अपहार का प्रश्न इसी स्थिति में होता है। जब व्यक्ति के मन में आधिपत्य की वृत्ति या शासन की भावना उद्बुद्ध होती है, तो वह दूसरे के अधिकारों का हनन करता है, अपहरण करता है। जैन-दर्शन अहंकार (मान) प्रत्यय के विगलन के द्वारा सामाजिक परतन्त्रता को समाप्त करता है। दूसरी ओर जैन-दर्शन का अहिंसा-सिद्धान्त भी सभी प्राणियों के समान अधिकारों को स्वीकार करता है। अधिकारों का हनन भी एक प्रकार की हिंसा है। अतः अहिंसा का सिद्धान्त स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के साथ जुड़ा हुआ है। जैन एवं बौद्ध-दर्शन एक ओर अहिंसा-सिद्धांत के आधार पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पूर्ण समर्थन करते हैं, वहीं दूसरी ओर समता के आधार पर वर्गभेद, जातिभेद, एवं ऊँच-नीच की भावना को समाप्त करते हैं।

सामाजिक जीवन में विषमता उत्पन्न होने के चार मूलभूत कारण हैः--१. संग्रह (लोभ), २. आवेश (क्रोध), ३. गर्व (बड़ा मानना) और ४. माया (छिपाना)। जिन्हें जैन-धर्म में चार कषाय कहा जाता है। ये चारों अलग-अलग रूप में सामाजिक-जीवन में विषमता, संघर्ष एवं अशान्ति के कारण बनते हैं। १. संग्रह की मनोवृत्ति के कारण शोषण, अप्रमाणिकता, स्वार्थपूर्ण-व्यवहार, क्रूर-व्यवहार, विश्वासघात आदि विकसित होते हैं। २. आवेश की मनोवृत्ति के कारण संघर्ष, युद्ध, आक्रमण एवं हत्याएँ आदि होते हैं। ३. गर्व की मनोवृत्ति के कारण घृणा और क्रूर व्यवहार होता है। ४. माया की मनोवृत्ति के कारण अविश्वास एवं मैत्रीपूर्ण व्यवहार उत्पन्न होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-दर्शन में जिन्हें चार कषाय कहा जाता है, उन्हीं के कारण सामाजिक जीवन दूषित होता है। जैन-दर्शन इन्हीं कषायों के निरोध को अपनी नैतिक-साधना का आधार बनाता है। अतः यह कहना उचित ही होगा कि जैन-दर्शन अपने साधना-मार्ग के रूप में सामाजिक-विषमताओं को समाप्त कर, सामाजिक-समत्व की स्थापना का प्रयत्न करता। यदि हम जैन-धर्म में स्वीकृत पांच महाव्रतों को देखें, तो स्पष्ट रूप में उनका पूरा सन्दर्भ सामाजिक जीवन है। हिंसा, मृषावचन, चोरी, मैथुन-सेवन (व्यभिचार)

एवं संग्रहवृत्ति सामाजिक जीवन की बुराइयाँ हैं। इनसे बचने के लिए पाँच महाव्रतों के रूप में जिन नैतिक सद्गुणों की स्थापना की गई, वे पूर्णतः सामाजिक-जीवन से सम्बन्धित हैं। अतः भारतीय दर्शन ने अनासक्ति एवं वीतरागता के प्रत्यय पर जो कुछ बल दिया है वह सामाजिकता का विरोधी नहीं है।

संन्यास और समाज

सामान्यतया भारतीय दर्शन के संन्यास के प्रत्यय को समाज निरपेक्ष माना जाता है, किन्तु क्या सन्यास की धारणा समाज-निरपेक्ष है? निश्चय ही संन्यासी पारिवारिक जीवन का त्याग करता है किन्तु इससे क्या वह असामाजिक हो जाता है? संन्यास के संकल्प में वह कहता है कि 'वित्तैषणा पुत्रैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता' अर्थात् मैं अर्थ-कामना, सन्तान-कामना और यश-कामना का परित्याग करता हूँ किन्तु क्या धन-सम्पदा, सन्तान तथा यश-कीर्ति की कामना का परित्याग समाज का परित्याग है? वस्तुतः समस्त एषणाओं का त्याग स्वार्थ का त्याग है, वासनामय जीवन का त्याग है, संन्यास का यह संकल्प उसे समाज-विमुख नहीं बनाता है, अपितु समाज-कल्याण की उच्चतर भूमिका पर अधिष्ठित करता है क्योंकि सच्चा लोकहित निःस्वार्थता एवं विराग की भूमि पर स्थित होकर ही किया जा सकता है।

भारतीय चिन्तन संन्यास को समाज-निरपेक्ष नहीं मानता। भगवान बुद्ध का यह आदेश 'चरत्थ भिक्खवे चारिकं बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय देव मनुस्सानं' (विनयपिटक-महावग्ग) इस बात का प्रमाण है कि संन्यास लोक-मंगल के लिए होता है। सच्चा संन्यासी वह व्यक्ति है जो समाज से अल्पतम लेकर उसे अधिकतम देता है। वस्तुतः वह कुटुम्ब, परिवार आदि का त्याग इसलिए करता है कि समष्टि का होकर रहे क्योंकि जो किसी का है वह सबका नहीं हो सकता, जो सबका है वह किसी का नहीं है। संन्यासी निःस्वार्थ और निष्काम रूप से लोक-मंगल का साधक होता है। संन्यास शब्द सम् पूर्वक न्यास है, न्यास शब्द का एक अर्थ देखरेख करना भी है। संन्यासी वह व्यक्ति है जो सम्यक् रूप से एक न्यासी (ट्रस्टी) की भूमिका अदा करता है और न्यासी वह है जो ममत्व भाव और स्वामित्व का त्याग करके किसी ट्रस्ट (सम्पदा) का रक्षण एवं विकास करता है[1]। संन्यासी सच्चे अर्थ में एक ट्रस्टी है। ट्रस्टी यदि ट्रस्ट का उपयोग अपने हित में करता है, अपने को उसका स्वामी समझता है तो वह सम्यक् ट्रस्टी नहीं हो सकता है। इसी प्रकार यदि वह ट्रस्ट के रक्षण एवं विकास का प्रयत्न न करे तो भी सच्चे अर्थ में ट्रस्टी नहीं है। इसी प्रकार यदि संन्यासी लोकेषणा से युक्त है, ममत्व-बुद्धि या स्वार्थ बुद्धि से काम करता है तो संन्यासी नहीं है और यदि लोक की उपेक्षा करता है, लोकमंगल के लिए प्रयास नहीं करता है तो वह भी संन्यासी नहीं है। उसके जीवन का मिशन तो 'सर्वभूत-हिते रतः' का है।

---

१. लेखक इस व्याख्या के लिए महेन्द्र मुनि जी का आभारी है।

संन्यास में राग से ऊपर उठना आवश्यक है। किंतु इसका तात्पर्य समाज की उपेक्षा नहीं है। संन्यास की भूमिका में स्वत्व एवं ममत्व के लिए निश्चय ही कोई स्थान नहीं है। फिर भी वह पलायन नहीं, अपितु समर्पण है। ममत्व का परित्याग कर्तव्य की उपेक्षा नहीं है, अपितु कर्तव्य का सही बोध है। संन्यासी उस भूमिका पर खड़ा होता है जहाँ व्यक्ति अपने में समष्टि को और समष्टि में अपने को देखता है। उसकी चेतना अपने और पराये के भेद से ऊपर उठ जाती है। यह अपने और पराये के विचार से ऊपर हो जाना समाज विमुखता नहीं है, अपितु यह तो उसके हृदय की व्यापकता है, महानता है। इसलिए भारतीय चिन्तकों ने कहा है:—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।

संन्यास की भूमिका न तो आसक्ति की भूमिका है और न उपेक्षा की। उसकी वास्तविक स्थिति 'धाय' (नर्स) के समान ममत्व रहित कर्तव्य भाव की होती है। जैन-धर्म में कहा भी गया है:—

सम दृष्टि जीवड़ा करे कुटुम्ब प्रतिपाल ।
अन्तर सूं न्यारा रहे जूं धाय खिलावे बाल ।।

वस्तुतः निर्ममत्व एवं निःस्वार्थ भाव से तथा वैयक्तिकता और स्वार्थ से ऊपर उठकर कर्तव्य का पालन ही संन्यास की सच्ची भूमिका है। संन्यासी वह व्यक्ति है जो लोक-मंगल के लिए अपने व्यक्तित्व एवं अपने शरीर को समर्पित कर देता है। वह जो कुछ भी त्याग करता है वह समाज के लिए एक आदर्श बनता है। समाज में नैतिक चेतना को जाग्रत करना तथा सामाजिक जीवन में आने वाली दुःप्रवृत्तियों से व्यक्ति को बचा-कर लोकमंगल के लिए उसे दिशा-निर्देश देना संन्यासी का सर्वोपरि कर्तव्य माना गया है। अतः हम कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन में संन्यास की जो भूमिका प्रस्तुत की गई है वह सामाजिकता की विरोधी नहीं है। संन्यासी क्षुद्र स्वार्थ से ऊपर उठकर खड़ा हुआ व्यक्ति होता है, जो आदर्श समाज-रचना के लिए प्रयत्नशील रहता है। अब हम मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक उपादेयता पर चर्चा करना चाहेंगे।

पुरुषार्थ चतुष्टय एवं समाज

भारतीय दर्शन मानव जीवन के लिए अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को स्वीकार करता है। यदि हम सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में इन पर विचार करते हैं तो इनमें से अर्थ, काम और धर्म का सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक जीवन में ही इन तीनों पुरुषार्थों की उपलब्धि सम्भव है। अर्थोपार्जन और काम का सेवन तो सामाजिक जीवन से जुड़ा हुआ ही होता है। किन्तु भारतीय चिन्तन में धर्म भी सामाजिक व्यवस्था और शान्ति के लिए ही है क्योंकि धर्म को 'धर्मो धारयते प्रजाः' के

रूप में परिभाषित कर उसका सम्बन्ध भी हमारे सामाजिक जीवन से जोड़ा गया है। वह लोक-मर्यादा और लोक-व्यवस्था का ही सूचक है। अतः पुरुषार्थ-चतुष्टय में केवल मोक्ष ही एक ऐसा पुरुषार्थ है जिसकी सामाजिक सार्थकता विचारणीय है। प्रश्न यह है कि क्या मोक्ष की धारणा सामाजिक दृष्टि से उपादेय हो सकती है? जहाँ तक मोक्ष की मरणोत्तर अवस्था या तत्त्व-मीमांसीय धारणा का प्रश्न है उस सम्बन्ध में न तो भारतीय दर्शनों में ही एक-रूपता है और न उसकी कोई सामाजिक सार्थकता ही खोजी जा सकती है। किन्तु इसी आधार पर मोक्ष को अनुपादेय मान लेना उचित नहीं है। लगभग सभी भारतीय दार्शनिक इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि मोक्ष का सम्बन्ध मूलतः मनुष्य की मनोवृत्ति से है। बन्धन और मुक्ति दोनों ही मनुष्य के मनोवेगों से सम्बन्धित है। राग, द्वेष, आसक्ति, तृष्णा, ममत्व, अहम् आदि की मनोवृत्तियाँ ही बन्धन हैं और इनसे मुक्त होना ही मुक्ति है। मुक्ति की व्याख्या करते हुए जैन दार्शनिकों ने कहा था कि मोह और क्षोभ से रहित आत्मा की अवस्था ही मुक्ति है। आचार्य शंकर कहते हैं:—

'वासनाप्रक्षयो मोक्षः'[1]

वस्तुतः मोह और क्षोभ हमारे जीवन से जुड़े हुए हैं और इसलिए मुक्ति का सम्बन्ध भी हमारे जीवन से ही है। मेरी दृष्टि में मोक्ष मानसिक तनावों से मुक्ति है। यदि हम मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक सार्थकता के सम्बन्ध से विचार करना चाहते हैं तो हमें इन्हीं मनोवृत्तियों एवं मानसिक विक्षोभों के सन्दर्भ में उस पर विचार करना होगा। सम्भवतः इस सम्बन्ध में कोई भी दो मत नहीं रखेगा कि राग, द्वेष, तृष्णा, आसक्ति, ममत्व, ईर्ष्या, वैमनस्य आदि की मनोवृत्तियाँ हमारे सामाजिक जीवन के लिए अधिक बाधक है। यदि इन मनोवृत्तियों से मुक्त होना ही मुक्ति का हार्द है तो मुक्ति का सम्बन्ध हमारे सामाजिक जीवन के साथ जुड़ा हुआ है। मोक्ष मात्र एक मरणोत्तर अवस्था नहीं है अपितु वह हमारे जीवन से सम्बन्धित है। मोक्ष को पुरुषार्थ माना गया है। इसका तात्पर्य यह है कि वह इसी जीवन में प्राप्तव्य है, जो लोग मोक्ष को एक मरणोत्तर अवस्था मानते हैं, वे मोक्ष के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं। आचार्य शंकर लिखते हैं:—

देहस्य मोक्षो नो मोक्षो न दण्डस्य कमण्डलोः।
अविद्याहृदयग्रन्थिमोक्षो मोक्षो यतस्ततः॥[2]

मरणोत्तर मोक्ष या विदेह-मुक्ति साध्य नहीं है। उसके लिए कोई साधना अपेक्षित नहीं है। जिस प्रकार मृत्यु जन्म लेने का अनिवार्य परिणाम है उसी प्रकार विदेह-मुक्ति तो जीवन-मुक्ति का अनिवार्य परिणाम है। अतः जो प्राप्तव्य है, जो पुरुषार्थ है और जो साध्य है वह तो जीवन-मुक्ति ही है। जीवन मुक्ति के प्रत्यय की सामाजिक सार्थकता से

१. विवेकचूडामणि ३१८ २. वही, ५५९।

हम इन्कार भी नहीं कर सकते क्योंकि जीवन-मुक्त एक ऐसा व्यक्तित्व है जो सदैव लोक-कल्याण के लिए प्रस्तुत रहता है। जैन दर्शन में तीर्थंकर, बौद्ध दर्शन मे अर्हत् एवं बोधिसत्व और वैदिक दर्शन में स्थित-प्रज्ञ की जो धारणाएँ प्रस्तुत की गई हैं और उनके व्यक्तित्व को जिस रूप में चित्रित किया गया है उससे हम निश्चय ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक उपादेयता भी है। वह लोक-मंगल और मानव कल्याण का एक महान आदर्श माना जा सकता है क्योंकि जन-जन का दुःखों से मुक्त होना ही मुक्ति है, मात्र इतना ही नहीं, भारतीय चिन्तन में वैयक्तिक मुक्ति की अपेक्षा भी लोक-कल्याण के लिए प्रयत्नशील बने रहने को अधिक महत्व दिया गया है। बौद्ध दर्शन में बोधिसत्व का और गीता में स्थितप्रज्ञ का जो आदर्श प्रस्तुत किया गया है, वह हमें स्पष्ट रूप से बताता है कि केवल वैयक्तिक मुक्ति को प्राप्त कर लेना ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है। बोधिसत्व तो लोकमंगल के लिये अपने बन्धन और दुःख की कोई परवाह नहीं करता है। वह कहता है:—

बहूनामेकदुःखेन यदि दुःखं विगच्छति। उत्पाद्यमेव तद् दुःखं सदयेन परात्मनो।
मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रमोद्यसागराः। तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्॥[1]

यदि एक के कष्ट उठाने से बहुतों का दुःख दूर होता हो, तो करुणापूर्वक उनके दुःख दूर करना ही अच्छा है। प्राणियों को दुःखों से मुक्त होता हुआ देखकर जो आनन्द प्राप्त होता है वही क्या कम है, फिर नीरस मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा की क्या आवश्यकता है? वैयक्तिक मुक्ति की धारणा की आलोचना करते हुए और जन-जन की मुक्ति के लिए अपने संकल्प को स्पष्ट करते हुए भागवत के सप्तम स्कन्ध में प्रहलाद ने स्पष्ट रूप से कहा था कि—

प्रायेण देवमुनयः स्वविमुक्तिकामाः।
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः॥
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्षुरेकः।

'हे प्रभु अपनी मुक्ति की कामना करने वाले देव और मुनि तो अब तक काफी हो चुके हैं, जो जंगल में जाकर मौन साधन किया करते थे। किन्तु उनमें परार्थ-निष्ठा नहीं थी। मैं तो अकेला इन सब दुःखीजनों को छोड़कर मुक्त होना भी नहीं चाहता।' यह भारतीय दर्शन और साहित्य का सर्वश्रेष्ठ उद्गार है। इसी प्रकार बोधिसत्व भी सदैव ही दीन और दुःखी जनों को दुःख से मुक्त कराने के लिए प्रयत्नशील बने रहने की अभिलाषा करता है और सबको मुक्त कराने के पश्चात् ही मुक्त होना चाहता है।

भवेयमुपजीव्योऽहं यावत्सर्वे न निर्वृताः।[2]

१. बोधिचर्यावतार ८।१०५,१०८। २. वही, ३।२१।

वस्तुतः मोक्ष अकेला पाने की वस्तु ही नहीं है। इस सम्बन्ध में विनोबा भावे के उद्गार विचारणीय हैं:—

जो समझता है कि मोक्ष अकेले हथियाने की वस्तु है, वह उसके हाथ से निकल जाता है, 'मैं' के आते ही मोक्ष भाग जाता है, मेरा मोक्ष यह वाक्य ही गलत है। 'मेरा' मिटने पर ही मोक्ष मिलता है।[1]

इसी प्रकार वास्तविक मुक्ति अहंकार से मुक्ति ही है। 'मैं' अथवा अहं भाव से मुक्त होने के लिए हमें अपने आपको समष्टि में, समाज में लीन कर देना होता है। मुक्ति वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है जो कि अपने व्यक्तित्व को समष्टि में, समाज में विलीन कर दे। आचार्य शान्तिदेव लिखते हैं:—

सर्वत्यागश्च निर्वाणं निर्वाणार्थि च मे मनः।
त्यक्तव्यं चेन्मया सर्वं वरं सत्त्वेषु दीयताम्॥[2]

इस प्रकार यह धारणा कि मोक्ष का प्रत्यय सामाजिकता का विरोधी है, गलत है। मोक्ष वस्तुतः दुःखों से मुक्ति है और मनुष्य जीवन के अधिकांश दुःख, मानवीय संवर्गों के कारण ही हैं। अतः मुक्ति, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, घृणा आदि के संवर्गों से मुक्ति पाने में है और इस रूप में वह वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टि से उपादेय भी है। दुःख, अहंकार एवं मानसिक क्लेशों से मुक्ति रूप में मोक्ष उपादेयता और सार्थकता को अस्वीकार भी नही किया जा सकता है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि भारतीय जीवन दर्शन की दृष्टि पूर्णतया सामाजिक और लोकमंगल के लिए प्रयत्नशील बने रहने की है। उसकी एकमात्र मंगल कामना है:—

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु। सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु। मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥

१. आत्मज्ञान और विज्ञान, पृ० ७१ २. बोधिचर्यावतार ३।११।

२ स्वहित बनाम लोकहित

नैतिक चिन्तन के प्रारम्भ काल से ही स्वहित और लोकहित का प्रश्न महत्त्वपूर्ण रहा है। भारतीय परम्परा में एक ओर चाणक्य का कथन है कि स्त्री, धन आदि सबसे बढ़कर अपना रक्षा का प्रयत्न करना चाहिए।[1] विदुर ने भी कहा है कि जो स्वार्थ को छोड़कर परार्थ करता है, जो मित्र (दूसरे लोगों) के लिए श्रम करता है वह मूर्ख ही है।[2] दूसरी ओर यह भी कहा जाता है कि स्वहित के लिए तो सभी जीते हैं, जो लोकहित के लिए जीता है, उसीका जीना सच्चा है।[3] जिसके जीने में लोकहित न हो, उससे तो मरण ही अच्छा है।[4]

पाश्चात्य विचारक हरबर्ट स्पेन्सर ने तो इस प्रश्न को नैतिक सिद्धान्तों के चिन्तन की वास्तविक समस्या कहा है। यहाँ तक कि पाश्चात्य आचार-शास्त्रीय विचारधारा में तो स्वार्थ और परार्थ की धारणा को लेकर दो पक्ष बन गये। स्वहितवादी विचारक जिनमें हाब्स, नीत्शे आदि प्रमुख हैं, यह मानते हैं कि मनुष्य प्रकृत्या केवल स्वहित या अपने लाभ से प्रेरित होकर कार्य करता है। अतः नैतिकता का वही सिद्धान्त समुचित है जो मानव-प्रकृति की इस धारणा के अनुकूल हो। इनके अनुसार अपने हित के लिए कार्य करने में ही मनुष्य का श्रेय है। दूसरी ओर बेन्थम, मिल प्रभृति विचारक मानव की स्वसुखवादी मनोवैज्ञानिक प्रकृति को स्वीकार करते हुए भी बौद्धिक आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि परहित की भावना ही नैतिक दृष्टि से न्यायपूर्ण है अथवा नैतिक जीवन का साध्य है।[5] मिल परार्थ को स्वार्थ के बौद्धिक आधार पर सिद्ध करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते, वरन् आंतरिक अंकुश (Internal Sanction) के द्वारा उसे स्वाभाविक भी सिद्ध करते हैं उनके अनुसार यह आन्तरिक अंकुश सजातीयता की भावना है। यद्यपि यह जन्मजात नहीं है, तथापि अस्वाभाविक या अनैसर्गिक भी नहीं है।[6] दूसरे, अन्य विचारक भी जिनमें बटलर, शापेनहावर एवं टाल्सटाय आदि प्रमुख हैं, मानव की मनोवैज्ञानिक प्रकृति में सहानुभूति, प्रेम आदि की उपस्थिति दिखाकर परार्थवादी या लोकमंगलकारी आचार-दर्शन का समर्थन करते हैं। हरबर्ट स्पेन्सर से

---

१. चाणक्यनीति, १।६, पंचतंत्र १।३८७

२. विदुरनीति, ३६

३. सुभाषित–उद्धृत नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० २०८

४. वही, पृ० २०५

५. नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ० १३७

६. यूटिलिटेरियनिज्म, अध्याय ३, उद्धृत नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ० १४८

लेकर ब्रेडले, ग्रीन, अरबन आदि अनेक समकालीन विचारकों ने भी मानव-जीवन के विभिन्न पक्षों को उभारते हुए सामान्य शुभ (कामन गुड) की अवधारणा के द्वारा स्वार्थवाद और परार्थवाद के बीच समन्वय साधने का प्रयास किया है। मानव-प्रकृति में विविधताएँ हैं, उसमें स्वार्थ और परार्थ के तत्त्व आवश्यक रूप से उपस्थित हैं। आचार-दर्शन का कार्य यह नहीं है कि वह स्वार्थवाद या परार्थवाद में से किसी एक सिद्धान्त का समर्थन या विरोध करे। उसका कार्य तो यह है कि 'अपने' और 'पराये' के मध्य सन्तुलन बैठाने का प्रयास करे अथवा आचार के लक्ष्य को इस रूप में प्रस्तुत करे कि जिसमें 'स्व' और 'पर' के बीच संघर्षों की सम्भावना का निराकरण किया जा सके। भारतीय आचार-दर्शन कहाँ तक और किस रूप में स्व और पर के संघर्ष की सम्भावना को समाप्त करते हैं अथवा स्व और पर के मध्य आदर्श सन्तुलन की संस्थापना करने में सफल होते हैं, इस बात की विवेचना के पूर्व हमें स्वार्थवाद और परार्थवाद की परिभाषा पर भी विचार कर लेना होगा।

संक्षेप में स्वार्थवाद आत्मरक्षण है और परार्थवाद आत्मत्याग है। मैकेन्जी लिखते हैं कि जब हम केवल अपने व्यक्तिगत साध्य की सिद्धि चाहते हैं तब इसे स्वार्थवाद कहा जाता है, परार्थवाद है दूसरे के साध्य की सिद्धि का प्रयास करना।[1]

जैनाचार-दर्शन में स्वार्थ और परार्थ—यदि स्वार्थ और परार्थ की उपर्युक्त परिभाषा स्वीकार की जाये तो जैन, बौद्ध एवं गीता के आचार-दर्शनों में किसीको पूर्णतया न स्वार्थवादी कहा जा सकता है और न परार्थवादी। जैन आचार-दर्शन आत्मा के स्वगुणों के रक्षण की बात कहता है। इस अर्थ में वह स्वार्थवादी है। वह सदैव ही आत्म-रक्षण या स्व-दया का समर्थन करता है, लेकिन साथ ही वह कषायात्मा या वासनात्मक आत्मा के विसर्जन, बलिदान या त्याग को भी आवश्यक मानता है और इस अर्थ में वह परार्थवादी भी है। यदि हम मैकेन्जी की परिभाषा को स्वीकार करें और यह मानें कि व्यक्तिगत साध्य की सिद्धि स्वार्थवाद और दूसरे के साध्य की सिद्धि का प्रयास परार्थवाद है तो भी जैन दर्शन स्वार्थवादी और परार्थवादी दोनों ही सिद्ध होता है। वह व्यक्तिगत आत्मा के मोक्ष या सिद्धि का समर्थन करने के कारण स्वार्थवादी तो होगा ही, लेकिन दूसरे की मुक्ति के हेतु प्रयासशील होने के कारण परार्थवादी भी कहा जायेगा। आत्म-कल्याण, वैयक्तिक बन्धन एवं दुःख से निवृत्ति की दृष्टि से तो जैन-साधना का प्राण आत्महित ही है, लेकिन लोक-करुणा एवं लोकहित की जिस उच्च भावना से अर्हत्-प्रवचन प्रस्फुटित होता है[2] उसे भी नहीं भुलाया जा सकता।

जैन-साधना में लोक-हित—जैनाचार्य समन्तभद्र वीर-जिन-स्तुति में कहते हैं, 'हे भगवन्, आपकी यह संघ (समाज)-व्यवस्था सभी प्राणियों के दुःखों का अन्त करने

---

१. नीति-प्रवेशिका, मैकेन्जी (हिन्दी अनुवाद), पृ० २३४
२. आचारांग १।४।१।१२७–१२९

वाली और सबका कल्याण (सर्वोदय) करनेवाली है।'[1] इससे ऊँची लोकमंगल की कामना क्या हो सकती है? प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा गया है कि भगवान् का यह सुकथित प्रवचन संसार के सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिए है।[2] जैन-साधना लोक-मंगल की धारणा को लेकर ही आगे बढ़ती है। उसी सूत्र में आगे कहा है कि जैन-साधना के पाँचों महाव्रत सर्व प्रकार से लोकहित के लिए ही हैं।[3] अहिंसा की महत्ता बताते हुए कहा गया है कि साधना के प्रथम स्थान पर स्थित यह अहिंसा सभी प्राणियों का कल्याण करनेवाली है।[4] यह भगवती अहिंसा भयभीतों के लिए शरण के समान है, पक्षियों के आकाश गमन के समान निर्बाध रूप से हितकारिणी है। प्यासों को पानी के समान, भूखों को भोजन के समान, समुद्र में जहाज के समान, रोगियों के लिए औषधि के समान और अटवी में सहायक के समान है।[5] तीर्थङ्कर-नमस्कारसूत्र (नमोत्थुणं) में तीर्थङ्कर के लिए लोकनाथ, लोकहितकर, लोकप्रदीप, अभय के दाता आदि जिन विशेषणों का उपयोग हुआ है, वे भी जैनदृष्टि की लोक मंगलकारी भावना को स्पष्ट करते हैं। तीर्थङ्करों का प्रवचन एवं धर्म-प्रवर्तन प्राणियों के अनुग्रह के लिए होता है, न कि पूजा या सत्कार के लिए।[6] यदि यह माना जाये कि जैन-साधना केवल आत्महित, आत्मकल्याण की बात कहती है तो फिर तीर्थंकर के द्वारा तीर्थप्रवर्तन या संघ-संचालन का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता, क्योंकि कैवल्य की उपलब्धि के बाद उन्हें अपने कल्याण के लिए कुछ करना शेष ही नहीं रहता। अतः मानना पड़ेगा कि जैन-साधना का आदर्श आत्मकल्याण ही नहीं, वरन् लोक-कल्याण भी है।

जैन दार्शनिकों ने आत्महित की अपेक्षा लोकहित को सदैव ही अधिक महत्त्व दिया है। जैन-दर्शन के अनुसार साधना की सर्वोच्च ऊँचाई पर स्थित सभी जीवन्मुक्त आध्यात्मिक पूर्णता की दृष्टि से समान ही होते हैं, फिर भी आत्महितकारिणी और लोकहितकारिणी दृष्टि के आधार पर उनमें उच्चावच्च अवस्था को स्वीकार किया गया है। एक सामान्य केवली (जीवन्मुक्त) और तीर्थंकर में आध्यात्मिक पूर्णताएँ समान ही होती हैं, फिर भी अपनी लोकहितकारी दृष्टि के कारण ही तीर्थंकर को सामान्य केवली की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार जीवन्मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेने वालों में भी उनके लोकोपकारिता के आधार पर तीन वर्ग होते हैं:—
१ तीर्थंकर, २ गणधर, ३ सामान्य केवली।

१. **तीर्थंकर**—तीर्थंकर वह है जो सर्वहित के संकल्प को लेकर साधना-मार्ग में आता है और आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी लोकहित में लगा

१. सर्वोदयदर्शन, आमुख, पृ० ६ पर उद्धृत।
२. प्रश्नव्याकरणसूत्र, २।१।२
३. वही, २।१।२१
४. वही, २।१।३
५. वही, २।१।२२
६. सूत्रकृतांग (टी०) १।६।४

रहता है। सर्वहित, सर्वोदय और लोक-कल्याण ही उनके जीवन का ध्येय बन जाता है।[१]

२. गणधर—सहवर्गीय-हित के संकल्प को लेकर साधना-क्षेत्र में प्रविष्ट होने वाला और अपनी आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त कर लेने पर भी सहवर्गियों के हित एवं कल्याण के लिए प्रयत्नशील साधक गणधर है। समूह-हित या गण-कल्याण गणधर के जीवन का ध्येय होता है[२]।

३. सामान्य केवली—आत्म-कल्याण को ही जिसने अपनी साधना का ध्येय बनाया है और जो इसी आधार पर साधना-मार्ग में प्रवृत्त होता हुआ आध्यात्मिक पूर्णता की उपलब्धि करता है वह सामान्य केवली कहलाता है[३]। सामान्य केवली को पारिभाषिक शब्दावली में मुण्ड-केवली भी कहते हैं।

जैनधर्म में विश्वकल्याण, वर्गकल्याण और वैयक्तिक कल्याण की भावनाओं को लेकर तदनुकूल प्रवृत्ति करने के कारण ही साधकों की ये विभिन्न कक्षाएँ निर्धारित की गयी हैं, जिनसे विश्व-कल्याण की प्रवृत्ति के कारण ही तीर्थङ्कर को सर्वोच्च स्थान दिया जाता है। जिस प्रकार बौद्ध-विचारणा में बोधिसत्व और अर्हत् के आदर्शों में भिन्नता है उसी प्रकार जैन विचारणा में तीर्थङ्कर और सामान्य केवली के आदर्शों में तरतमता है।

दूसरे जैन-साधना में संघ (समाज) को सर्वोपरि माना गया है। संघहित समस्त वैयक्तिक साधनाओं से ऊपर है, संघ के कल्याण के लिए वैयक्तिक साधना का परित्याग करना भी आवश्यक माना गया है। आचार्य कालक की कथा इसका उदाहरण है[४]।

स्थानांगसूत्र में जिन दस धर्मों (कर्त्तव्यों)[५] का निर्देश किया गया है, उनमें संघधर्म, राष्ट्रधर्म, नगरधर्म, ग्रामधर्म और कुलधर्म का उल्लेख इस बात का सबल प्रमाण है कि जैनदृष्टि न केवल आत्महित या वैयक्तिक विकास तक सीमित है, वरन् उसमें लोकहित या लोककल्याण का अजस्र प्रवाह भी प्रवाहित है।

यद्यपि जैन-दर्शन लोकहित, लोकमंगल की बात कहता है परन्तु उसकी एक शर्त है कि परार्थ के लिए स्वार्थ का विसर्जन किया जा सकता है, लेकिन आत्मार्थ का नहीं। उसके अनुसार वैयक्तिक भौतिक उपलब्धियों को लोककल्याण के लिए समर्पित किया जा सकता है और किया भी जाना चाहिए, क्योंकि वे हमें जगत् से ही मिली हैं, वे संसार की ही हैं, हमारी नहीं। सांसारिक उपलब्धियाँ संसार के लिए हैं, अतः उनका लोकहित के लिए विसर्जन किया जाना चाहिए, लेकिन आध्यात्मिक विकास या

१. योगबिन्दु, २८५-२८८। २. वही, २८९। ३. वही, २९०।
४. निशीथचूर्णि, गा० २८६०। ५. स्थानांग, १०।७६०।

वैयक्तिक नैतिकता को लोकहित के नाम पर कुंठित किया जाना उसे स्वीकार नहीं। ऐसा लोकहित जो व्यक्ति के चरित्र-पतन अथवा आध्यात्मिक कुण्ठन से फलित होता हो, उसे स्वीकार नहीं है लोकहित और आत्महित के सन्दर्भ में उसका स्वर्णिमसूत्र है—आत्महित करो और यथाशक्य लोकहित भी करो, लेकिन जहाँ आत्महित और लोकहित में द्वन्द्व हो और आत्महित के कुण्ठन पर ही लोकहित फलित होता हो, वहाँ आत्मकल्याण ही श्रेष्ठ है।[1]

आत्महित स्वार्थ नहीं है—आत्महित स्वार्थवाद नहीं है। आत्मकाम वस्तुतः निष्काम होता है, क्योंकि उसकी कोई कामना नहीं होती। इसलिए उसका कोई स्वार्थ भी नहीं होता। स्वार्थी तो वह होता है जो यह चाहता है कि सभी लोग उसके हित के लिए कार्य करें। आत्मार्थी स्वार्थी नहीं है उसकी दृष्टि तो यह होती है कि सभी अपने हित के लिए कार्य करें। स्वार्थ और आत्मकल्याण में मौलिक अन्तर यह है कि स्वार्थ की भावना में राग और द्वेष की वृत्तियाँ काम करती हैं जबकि आत्महित या आत्म-कल्याण का प्रारम्भ ही राग-द्वेष की वृत्तियों की क्षीणता से होता है। स्वार्थ और परार्थ में संघर्ष की सम्भावना भी तभी है, जब उनमें राग-द्वेष की वृत्ति निहित हो। राग-भाव या स्वहित की वृत्ति से किया जाने वाला परार्थ भी सच्चा लोकहित नहीं है, वह तो स्वार्थ ही है। शासन द्वारा नियुक्त एवं प्रेरित समाजकल्याण अधिकारी वस्तुतः लोकहित का कर्त्ता नहीं है, वह तो वेतन के लिए काम करता है। इसी तरह राग से प्रेरित होकर लोकहित करने वाला भी सच्चे अर्थों में लोकहित का कर्त्ता नहीं है। उसके लोकहित के प्रयत्न राग की अभिव्यक्ति, प्रतिष्ठा की रक्षा, यश-अर्जन की भावना या भावी लाभ की प्राप्ति के हेतु ही होते हैं। ऐसा परार्थ स्वार्थ ही होता है। सच्चा आत्महित और सच्चा लोकहित, राग-द्वेष से रहित अनासक्ति की भूमि पर प्रस्फुटित होता है। लेकिन उस अवस्था में न तो 'स्व' रहता है न 'पर'; क्योंकि जहाँ राग है वहीं 'स्व' है और जहाँ 'स्व' है वहीं 'पर' है। राग के अभाव में स्व और पर का विभेद ही समाप्त हो जाता है। ऐसी राग विहीन भूमिका में किया जानेवाला आत्महित भी लोकहित होता है, और लोकहित आत्महित होता है। दोनों में कोई संघर्ष नहीं, कोई द्वैत नहीं है। उस दशा में तो सर्वत्र आत्मदृष्टि होती है, जिसमें न कोई अपना, न कोई पराया। स्वार्थ-परार्थ की समस्या यहाँ रहती ही नहीं।

जैन विचारणा के अनुसार स्वार्थ और परार्थ के मध्य सभी अवस्थाओं में संघर्ष रहे, यह आवश्यक नहीं। व्यक्ति जैसे-जैसे भौतिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन की ओर ऊपर उठता जाता है, वैसे-वैसे स्वार्थ परार्थ का संघर्ष भी समाप्त होता जाता है। जैन विचारकों ने परार्थ या लोकहित के तीन स्तर माने हैं :—

१. उद्धृत आत्मसाधना-संग्रह, पृ० ४४१।

१. द्रव्य लोकहित, २. भाव लोकहित और ३. पारमार्थिक लोकहित।

१. **द्रव्य-लोकहित**[1]—यह लोकहित का भौतिक स्तर है। भौतिक उपादानों जैसे भोजन, वस्त्र, आवास आदि तथा शारीरिक सेवा के द्वारा लोकहित करना लोकहित का भौतिक स्तर है। यहाँ पर लोकहित के साधन भौतिक होते हैं। द्रव्य-लोकहित एकान्त रूप में आचरणीय नहीं कहा जा सकता। यह अपवादात्मक एवं सापेक्ष नैतिकता का क्षेत्र है। भौतिक स्तर पर स्वहित की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। यहाँ तो स्वहित और परहित में उचित समन्वय साधना ही अपेक्षित है। पाश्चात्य नैतिक विचारणा के परिष्कृत स्वार्थवाद, बौद्धिक परार्थवाद और सामान्य शुभतावाद का विचारक्षेत्र लोकहित का भौतिक स्वरूप ही है।

२. **भाव-लोकहित**[2]—लोकहित का यह स्तर भौतिक स्तर से ऊपर का है। यहाँ लोकहित के साधन ज्ञानात्मक या चैतसिक होते हैं। इस स्तर पर परार्थ और स्वार्थ संघर्ष की सम्भावना अल्पतम होती है।

३. **पारमार्थिक लोकहित**[3]—यह लोकहित का सर्वोच्च स्तर है। यहाँ आत्महित और पर-हित में कोई संघर्ष या द्वैत नहीं रहता। यहाँ पर लोकहित का रूप होता है यथार्थ जीवनदृष्टि के सम्बन्ध में मार्ग दर्शन करना।

बौद्ध दर्शन की लोकहितकारिणी दृष्टि

बौद्ध-धर्म में लोक-मंगल की भावना का स्रोत प्रारम्भ से ही प्रवाहित रहा है। भगवान् बुद्ध की धर्मदेशना भी जैन तीर्थंकरों की धर्म-देशना के समान लोकमंगल के लिए ही प्रस्फुटित हुई थी। इतिवुत्तक में बुद्ध कहते हैं, हे भिक्षुओं, दो संकल्प तथागत भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध को हुआ करते हैं—१. एकान्त ध्यान का संकल्प और २. प्राणियों के हित का संकल्प[4]। बोधि प्राप्त कर लेने पर बुद्ध ने अद्वितीय समाधि-सुख में विहार करने के निश्चय का परित्याग कर लोकहितार्थ एवं लोकमंगल के लिए परिचारण करना ही स्वीकार किया। यह उनकी लोकमंगलकारी दृष्टि का सबसे बड़ा प्रमाण है।[5] यही नहीं, बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को लोकहित का ही सन्देश दिया और कहा कि हे भिक्षुओं, बहुजनों के हित के लिए, बहुजनों के सुख के लिए, लोक की अनुकम्पा के लिए, देव और मनुष्यों के सुख और हित के लिए परिचारण करते रहो।[6] जातक निदान कथा में भी बोधिसत्व को यह कहते हुए दिखाया गया है कि मुझ शक्तिशाली पुरुष के लिए अकेले तर जाने से क्या लाभ? मैं तो सर्वज्ञता प्राप्त कर देवताओं-सहित इस सारे लोक को तारूंगा।[7]

१-३. अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ५, पृ० ६९७ ४. इतिवुत्तक, २।२।९

५. मज्झिमनिकाय, १।३।६ ६. विनयपिटक, महावग्ग, १।१०।३२

७. जातकअट्ठकथा-निदान कथा।

बौद्ध-धर्म की महायान शाखा ने तो लोकमंगल के आदर्श को ही अपनी नैतिकता का प्राण माना। वहाँ तो साधक लोकमंगल के आदर्श की साधना में परममूल्य निर्वाण की भी उपेक्षा कर देता है, उसे अपने वैयक्तिक निर्वाण में कोई रुचि नहीं रहती है। महायानी साधक कहता है—दूसरे प्राणियों को दुःख से छुड़ाने में जो आनन्द मिलता है, वही बहुत काफी है। अपने लिए मोक्ष प्राप्त करना नीरस है, उससे हमें क्या लेना देना।[१]

लंकावतारसूत्र में बोधिसत्व से यहाँ तक कहलवा दिया गया कि मैं तबतक परि-निर्वाण में प्रवेश नहीं करूँगा जबतक कि विश्व के सभी प्राणी विमुक्ति प्राप्त न कर लें।[२] साधक पर-दुःख-विमुक्ति से मिलनेवाले आनन्द को स्व के निर्वाण के आनन्द से भी महत्त्वपूर्ण मानता है, और उसके लिए अपने निर्वाण सुख को ठुकरा देता है। पर-दुःख-कातरता और सेवा के आदर्श का इससे बड़ा संकल्प और क्या हो सकता है? बौद्ध-दर्शन की लोकहितकारी दृष्टि का रस-परिपाक तो हमें आचार्य शान्तिदेव के ग्रन्थ शिक्षासमुच्चय और बोधिचर्यावतार में मिलता है। लोकमंगल के आदर्श को प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं, 'अपने सुख को अलग रख और दूसरों के दुःख (दूर करने) में लग'।[3] दूसरों का सेवक बनकर इस शरीर में जो कुछ वस्तु देख उससे दूसरों का हित कर।[४] दूसरे के दुःख से अपने सुख को बिना बदले बुद्धत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। फिर संसार में सुख है ही कहाँ?[५] यदि एक के दुःख उठाने से बहुत का दुःख चला जाय तो अपने पराये पर कृपा करके वह दुःख उठाना ही चाहिए।[६] बोधिसत्त्व की लोकसेवा की भावना का चित्र प्रस्तुत करते हुए आचार्य लिखते हैं, "मैं अनाथों का नाथ बनूँगा, यात्रियों का सार्थवाह बनूँगा, पार जाने की इच्छावालों के लिए मैं नाव बनूँगा, मैं उनके लिए सेतु बनूँगा, धरनियाँ बनूँगा। दीपक चाहने वालों के लिए दीपक बनूँगा, जिन्हें शय्या की आवश्यकता है उनके लिए मैं शय्या बनूँगा, जिन्हें दास की आवश्यकता है उनके लिए दास बनूँगा, इस प्रकार मैं जगती के सभी प्राणियों की सेवा करूँगा।[७] जिस प्रकार पृथ्वी, अग्नि आदि भौतिक वस्तुएँ सम्पूर्ण आकाश (विश्वमण्डल) में बसे प्राणियों के सुख का कारण होती हैं, उसी प्रकार मैं आकाश के नीचे रहनेवाले सभी प्राणियों का उपजीव्य बनकर रहना चाहता हूँ, जब तक कि सभी प्राणी मुक्ति प्राप्त न कर लें।[८]

साधना के साथ सेवा की भावना का कितना सुन्दर समन्वय है! लोकसेवा, लोक-कल्याण-कामना के इस महान् आदर्श को देखकर हमें बरबस ही श्री भरतसिंहजी

१. बोधिचर्यावतार, ८।१०८
२. लंकावतारसूत्र, ६६।६
३. बोधिचर्यावतार, ८।१६१
४. वही, ८।१५९
५. वही, ८।१३१
६. वही, ८।१०५
७. वही, ३।१७-१८
८. वही, ३।२०-२१

उपाध्याय के स्वर में कहना पड़ता है, 'कितनी उदात्त भावना है। विश्व-चेतना के साथ अपने को आत्मसात् करने की कितनी विह्वलता है। परार्थ में आत्मार्थ को मिला देने का कितना अपार्थिव उद्योग है'।[1] आचार्य शान्तिदेव भी केवल परोपकार या लोक-कल्याण का सन्देश नहीं देते, वरन् उस लोक-कल्याण के सम्पादन में भी पूर्ण निष्काम, भाव पर भी बल देते है। निष्काम भाव से लोककल्याण कैसे किया जाये, इसके लिए शान्तिदेव ने जो विचार प्रस्तुत किये है वे उनके मौलिकचिन्तन का परिणाम है। गीता के अनुसार व्यक्ति ईश्वरीय प्रेरणा को मानकर निष्काम भाव से कर्म करता रहे अथवा स्वयं को और सभी साथी प्राणियों को उसी पर ब्रह्म का ही अंश मानकर सभी में आत्मभाव जागृत कर बिना आकांक्षा के कर्म करता रहे। लेकिन निरीश्वरवादी और अनात्मवादी बौद्ध दर्शन में तो यह सम्भव नहीं था। यह तो आचार्य की बौद्धिक प्रतिभा ही है, जिसने मनोवैज्ञानिक आधारों पर निष्कामभाव से लोकहित की अवधारणा को सम्भव बनाया। समाज के सावयवता के जिस सिद्धान्त के आधार पर ब्रेडले प्रभृति पाश्चात्य विचारक लोकहित और स्वहित में समन्वय साधते हैं और उन विचारों की मौलिकता का दावा करते है, वे विचार आचार्य शान्तिदेव के ग्रंथों में बड़े स्पष्ट रूप से प्रकट हुए है और उनके आधार पर उन्होंने निःस्वार्थ कर्म-योग की अवधारणा को भी सफल बनाया है। वे कहते हैं कि, जिस प्रकार निरात्मक (अपनेपन के भाव रहित) निज शरीर में अभ्यासवश अपनेपन का बोध होता है, वैसे ही दूसरे प्राणियों के शरीरों में अभ्यास से क्या अपनापन उत्पन्न न होगा ?[2] अर्थात् दूसरे प्राणियों के शरीरों में अभ्यास से ममत्वभाव अवश्य ही उत्पन्न होगा, क्योंकि जैसे हाथ आदि अंग शरीर के अवयव होने के कारण प्रिय होते हैं, वैसे ही सभी देहधारी जगत् के अवयव होने के कारण प्रिय क्यों नहीं होंगे[3], अर्थात् वे भी उसी जगत् के, जिसका मैं अवयव हूँ, अवयव होने के कारण प्रिय होंगे, उनमें भी आत्मभाव होगा और यदि सब में प्रियता एवं आत्मभाव उत्पन्न हो गया तो फिर दूसरों के दुःख दूर किये बिना नहीं रहा जा सकेगा, क्योंकि जिसका जो दुःख हो वह उससे अपने को बचाने का प्रयत्न तो करता है। यदि दूसरे प्राणियों को दुःख होता है, तो हमको उससे क्या ? ऐसा मानो तो हाथ को पैर का दुःख नहीं होता, फिर क्यों हाथ से पैर का कंटक निकालकर दुःख से उसकी रक्षा करते हो ?[4] जैसे हाथ पैर का दुःख दूर किये बिना नहीं रह सकता, वैसे ही समाज का कोई भी प्रज्ञायुक्त सदस्य दूसरे प्राणी का दुःख दूर किये बिना नहीं रह सकता। इस प्रकार आचार्य समाज की सावयवता को सिद्ध कर उसके आधार पर लोकमंगल का सन्देश देते हुए आगे यह भी

१. बौद्ध-दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ६१२ २. बोधिचर्यावतार, ८।११५
३. वही, ८।११४ ४. वही, ८।९९

स्पष्ट कर देते हैं कि इस लोकमंगल की साधना में निष्कामता होनी चाहिए। वे लिखते हैं, "जिस प्रकार अपने आपको भोजन कराकर फल की आशा नहीं होती है उसी प्रकार परार्थ करके भी फल की आशा, गर्व या विस्मय नहीं होता है'।[1] (क्योंकि परार्थ द्वारा हम अपने ही समाजरूपी शरीर की या उसके अवयवों की सन्तुष्टि करते हैं) इसलिए एकमात्र परोपकार के लिए ही परोपकार करके, न गर्व करना और न विस्मय और न विपाकफल की इच्छा ही[2]।"

बौद्ध-दर्शन भी आत्मार्थ और परार्थ में कोई भेद नहीं देखता। इतना ही नहीं, वह आत्मार्थ को परार्थ के लिए समर्पित करने के लिए भी तत्पर है। लेकिन उसकी एक सीमा है जिसे वह भी उसी रूपमें स्वीकार करता है, जिस रूप में जैन-विचारकों ने उसे प्रस्तुत किया है। वह कहता है कि लोकमंगल के लिए सब कुछ न्योछावर किया जा सकता है, यहाँ तक कि अपने समस्त संचित पुण्य और निर्वाण का सुख भी। लेकिन वह उसके लिए अपनी नैतिकता को, अपने सदाचार को समर्पित करने के लिए तत्पर नहीं है। नैतिकता और सदाचरण की कीमत पर किया गया लोक-कल्याण उसे स्वीकार नहीं है। एक बौद्ध साधक विगलित शरीरवाली वेश्या की सेवा-शुश्रूषा तो कर सकता है, लेकिन उसकी कामवासना की पूर्ति नहीं कर सकता। किसी भूख से व्याकुल व्यक्ति को अपना भोजन भले ही दे दे, लेकिन उसके लिए चौर्य कर्म का आचरण नहीं कर सकता। बौद्ध दर्शन में लोकहित का वही रूप आचरणीय है जो नैतिक जीवन के सीमाक्षेत्र में हो। लोकहित नैतिक जीवन से ऊपर नहीं हो सकता। नैतिकता के समस्त फलों को लोकहित के लिए समर्पित किया जा सकता है, लेकिन स्वयं नैतिकता को नहीं। बौद्ध विचारणा में लोकहित के पवित्र साध्य के लिए भ्रष्ट या अनैतिक साधन कथमपि स्वीकार नहीं हैं। लोकहित वहीं तक आचरणीय है जहाँ तक उसका नैतिक जीवन से अविरोध हो। यदि कोई लोकहित ऐसा हो जो व्यक्ति के नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के बलिदान पर ही सम्भव हो, तो ऐसी दशा में वह बहुजन हित आचरणीय नहीं है, वरन् स्वयं के नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की उपलब्धि ही आचरणीय है। धम्मपद में कहा है, व्यक्ति अपने अशुभाचरण से ही अशुद्ध होता है और अशुभ आचरण का सेवन नहीं करने पर ही शुद्ध होता है। शुद्धि और अशुद्धि प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न-भिन्न है। दूसरा व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को शुद्ध नहीं कर सकता। इसलिए दूसरे व्यक्तियों के बहुत हित के लिए भी अपनी नैतिक शुद्धि रूपी हित की हानि नहीं करे और अपने सच्चे हित और कल्याण को जानकर उसकी प्राप्ति में लगे।[3] संक्षेप में बौद्ध आचार-दर्शन में ऐसा लोकहित ही स्वीकार्य है, जिसका व्यक्ति के

---

१. बोधिचर्यावतार, ८।११६ २. वही, ८।१०९

३. धम्मपद, १६५-१६६

आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास से अविरोध है। लोकहित का विरोध हमारी भौतिक उपलब्धियों से हो सकता है, लेकिन हमारे आध्यात्मिक विकास से उसका विरोध नहीं रहता। सच्चा लोकहित तो व्यक्ति की आध्यात्मिक या नैतिक प्रगति का सूचक है। इस प्रकार व्यक्ति की नैतिक तथा आध्यात्मिक प्रगति में सहायक लोकहित ही बौद्ध-साधना का प्राण है। उस अवस्था में आत्मार्थ और परार्थ अलग-अलग नहीं रहते हैं। आत्मार्थ ही परार्थ बन जाता है और परार्थ ही आत्मार्थ बन जाता है, वह निष्काम होता है।

यद्यपि बौद्ध दर्शन की हीनयान शाखा स्वहितवादी और महायान शाखा परहितवादी आदर्शों के आधार पर विकसित हुई है, तथापि बुद्ध के मौलिक उपदेशों में हमें कहीं भी स्वहित और लोकहित में एकान्तवादिता नहीं दिखाई देती। तथागत तो मध्यममार्ग की प्रतिष्ठापना के हेतु ही उत्पन्न हुए। वे भला एकान्तदृष्टि को कैसे स्वीकार करते। मध्यममार्ग के उपदेशक भगवान् बुद्ध ने अपनी देशना में तो लोकहित और आत्महित के बीच सदैव ही एक मांग-संतुलन रखा है, एक अविरोध देखा है। लोकहित और आत्महित जबतक नैतिकता की सीमा में है, तबतक न उनमें विरोध रहता है और न कोई संघर्ष ही होता है। तर्कशास्त्र की भाषा में वे दोनों ही नैतिकता की महाजाति की दो उपजातियों के रूप होते है, जिनमें विपरीतता तो है, लेकिन व्याघातकता नहीं है। लोकहित और आत्महित में विरोध और संघर्ष तो तब होता है, जब उनमें से कोई भी नैतिकता का अतिक्रमण करता है। भगवान् बुद्ध का कहना यही था कि यदि आत्म-हित करना है तो वह नैतिकता की सीमा में करो और यदि परहित करना है तो वह भी नैतिकता की सीमा में, धर्म की मर्यादा में रहकर ही करो। नैतिकता और धर्म से दूर होकर किया जाने वाला आत्महित 'स्वार्थ साधन' है और लोकहित सेवा का निरा ढोंग है। बुद्ध ने आत्महित और लोकहित, दोनों को ही नैतिकता के क्षेत्र में लाकर परखा और उनमें अविरोध पाया। श्री भरतसिंह उपाध्याय के शब्दों में 'बुद्ध के मौलिक उपदेशों में आत्मकल्याण और परकल्याण, आत्मार्थ और परार्थ ध्यान और सेवा, दोनों का उचित संयोग है। आत्मकल्याण और परकल्याण में वहाँ कोई विभाजक रेखा नहीं थी'[1]। बुद्ध आत्मार्थ और परार्थ के सम्यक्रूप को जानने पर बल देते हैं। उनके अनुसार यथार्थ दृष्टि से आत्मार्थ और परार्थ में अविरोध है। आत्मार्थ और परार्थ में विरोध तो उसी स्थिति में दिखाई देता है जब हमारी दृष्टि राग, द्वेष तथा मोह से युक्त होती है। राग द्वेष और मोह का प्रहाण होने पर उनमें कोई विरोध दिखाई ही नहीं देता। स्व और पर का विरोध तो राग और द्वेष में ही है। जहाँ राग-द्वेष नहीं है, वहाँ कौन अपना और कौन पराया ? जब मनुष्य राग-द्वेष से ऊपर उठ जाता है तब वहाँ न आत्मार्थ

१. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ६०९–६१०

रहता है न परार्थ, वहाँ तो केवल परमार्थ रहता है। इसमें यथार्थ आत्मार्थ और यथार्थ परार्थ दोनों ही एकरूप हैं। तथागत के अन्तेवासी शिष्य आनन्द कहते हैं, 'आयुष्मान्, जो राग से अनुरक्त है, जो राग के वशीभूत है जो द्वेष से दुष्ट है, द्वेष के वशीभूत है, जो मोह से मूढ़ है, मोह के वशीभूत है वह यथार्थ आत्मार्थ को भी नहीं पहचानता है, यथार्थ परार्थ को भी नहीं पहचानता है, यथार्थ उभयार्थ को भी नहीं पहचानता है। राग का नाश होने पर, द्वेष का नाश होने पर····मोह का नाश होने पर—वह यथार्थ आत्मार्थ भी पहचानता है, यथार्थ परार्थ भी पहचानता है, यथार्थ उभयार्थ भी पहचानता है।'[1]

राग, द्वेष और मोह का प्रहाण होने पर ही मनुष्य अपने वास्तविक हित को, दूसरों के वास्तविक हित को तथा अपने और दूसरों के वास्तविक सामूहिक या सामाजिक हित को जान सकता है। बुद्ध के अनुसार पहले यह जानो कि अपना और दूसरों का अथवा समाज का वास्तविक कल्याण किसमें है। जो व्यक्ति अपने, दूसरों के और समाज के वास्तविक हित को समझे बिना ही लोकहित, परहित एवं आत्महित का प्रयास करता है, वह वस्तुतः किसी का भी हित नहीं करता है।

लेकिन राग, द्वेष और मोह के प्रहाण के बिना अपना और दूसरों का वास्तविक हित किसमें है यह नहीं जाना जा सकता ? सम्भवतः सोचा यह गया कि चित्त के रागादि से युक्त होने पर भी बुद्धि के द्वारा आत्महित या परहित किसमें है, इसे जाना जा सकता है। लेकिन बुद्ध को यह स्वीकार नहीं था। बुद्ध की दृष्टि में तो राग-द्वेष, मोहादि चित्त के मल हैं और इन मलों के होते हुए कभी भी यथार्थ आत्महित और परहित को जाना नहीं जा सकता। बुद्धि तो जल के समान है, यदि जल में गंदगी है, विकार है, चंचलता है तो वह यथार्थ प्रतिबिम्ब देने में कथमपि समर्थ नहीं होता, ठीक इसी प्रकार राग-द्वेष से युक्त बुद्धि भी यथार्थ स्वहित और लोकहित को बताने में समर्थ नहीं होती है। बुद्ध एक सुन्दर रूपक द्वारा यही बात कहते हैं भिक्षुओं, जैसे पानी का तालाब गंदला हो, चंचल हो और कीचड़-युक्त हो, वहाँ किनारे पर खड़े आँखवाले आदमी को न सीपी दिखाई दे, न शंख, न कंकर, न पत्थर, न चलती हुई या स्थिर मछलियाँ दिखाई दें। यह ऐसा क्यों? भिक्षुओं, पानी के गंदला होने के कारण। इसी प्रकार भिक्षुओं, इसकी सम्भावना नहीं है कि वह भिक्षु मैले (राग-द्वेषादि से युक्त) चित्त से आत्महित जान सकेगा, परहित जान सकेगा, उभयहित जान सकेगा और सामान्य मनुष्य धर्म से बढ़कर विशिष्ट आर्य-ज्ञान दर्शन को जान सकेगा। इसकी सम्भावना है कि भिक्षु निर्मल चित्त से आत्महित को जान सकेगा, परहित को जान सकेगा, उभयहित को जान सकेगा, सामान्य मनुष्य धर्म से बढ़कर विशिष्ट आर्य-दर्शन को जान सकेगा।[2]

१. अंगुत्तरनिकाय, ३।७१ २. वही, १।५

बुद्ध के इस कथन का सार यही है कि जीवन में जबतक राग-द्वेष और मोह की वृत्तियाँ सक्रिय हैं, तबतक आत्महित और लोकहित की यथार्थदृष्टि उत्पन्न नहीं होती है। राग और द्वेष का प्रहाण होने पर ही सच्ची दृष्टि का उदय होता है और जब यह यथार्थदृष्टि उत्पन्न हो जाती है तब स्वार्थ (Egoism), परार्थ (Altruism) और उभयार्थ (Common Good) में कोई विरोध ही नहीं रहता। हीनयान या स्थविरवाद में जो स्वहितवाद अर्थात् आत्मकल्याण के दृष्टिकोण का प्राधान्य है, उसका मूल कारण तत्कालीन परिस्थितियाँ मानी जा सकती हैं; फिर भी हीनयान का उस लोकमंगल की साधना से मूलतः कोई विरोध नहीं है, जो वैयक्तिक नैतिक विकास में बाधक न हो। जिस अवस्था तक वैयक्तिक नैतिक विकास और लोकमंगल की साधना में अविरोध है, उस अवस्था तक लोकमंगल उसे भी स्वीकार है। मात्र वह लोकमंगल के लिए आन्तरिक और नैतिक विशुद्धि को अधिक महत्त्व देता है। आन्तरिक पवित्रता एवं नैतिक विशुद्धि से शून्य होकर फलाकांक्षा से युक्त लोकसेवा के आदर्श को वह स्वीकार नहीं करता। उसकी समग्र आलोचनाएँ ऐसे ही लोकहित के प्रति हैं। भिक्षु पारापरिय ने, बुद्ध के परवर्ती भिक्षुओं में लोकसेवा का जो थोथा आदर्श जोर पकड़ गया था, उसकी समालोचना में निम्न विचार प्रस्तुत किये हैं:—

> लोगों की सेवा काय से करते हैं, धर्म से नहीं।
> दूसरों को धर्म का उपदेश देते हैं,
> (अपने) लाभ के लिए, न कि (उनके) अर्थ के लिए ॥[1]

स्थविरवादी भिक्षुओं का विरोध लोकसेवा के उस रूप से है जिसका सेवारूपी शरीर तो है, लेकिन जिसकी नैतिक चेतनारूपी आत्मा मर चुकी है। वह लोकसेवा सेवा नहीं, सेवा का प्रदर्शन है, दिखावा है, ढोंग है, छलना है, आत्मप्रवंचना है। डा० भरतसिंह उपाध्याय के अनुसार एकांतता की साधना की प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में प्रमुखता अवश्य थी, परन्तु सार्थक तथ्य यह है कि उसे लोकसेवा के या जनकल्याण के विपरीत वहाँ कभी नहीं माना गया। बल्कि यह तो उसके लिए एक तैयारी थी।[2] दूसरी ओर यदि हम महायानी साहित्य का गहराई से अध्ययन करें तो हमें बोधिचर्यावतार, शिक्षासमुच्चय, लंकावतारसूत्र जैसे ग्रन्थों में भी कहीं ऐसी सेवाभावना का समर्थन नहीं मिलता जो नैतिक जीवन के व्यक्तिगत मूल्यों के विरोध में खड़ी हो। लोक-मंगल का जो आदर्श महायान परम्परा ने प्रस्तुत किया है, वह भी ऐसे किसी लोकहित का समर्थन नहीं करता, जिसके लिए वैयक्तिक नैतिकता को समाप्त कर दिया जाये। इस प्रकार सैद्धांतिक दृष्टि से लोकहित और आत्महित की अवधारणा में हीनयान और महायान में कोई मौलिक विरोध नहीं रह जाता। यद्यपि व्यावहारिक रूप में यह तथ्य सही है कि जहाँ

१. थेरगाथा, ९४१–९४२ २. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ६०९

एक ओर हीनयान ने एकांगी साधना और व्यक्तिनिष्ठ आचार-परम्परा का विकास किया और साधना को अधिकांश रूपेण आन्तरिक एवं वैयक्तिक बना दिया, वहाँ दूसरी ओर महायान ने उसी की प्रतिक्रिया में साधना के वैयक्तिक पक्ष की उपेक्षा कर उसे सामाजिक और बहिर्मुखी बना दिया। इस तरह लोक-सेवा और लोकानुकम्पा को अधिक महत्त्व दिया। यहाँ हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि हीनयान और महायान ने जिस सीमा तक अपने में इस ऐकान्तिक को प्रश्रय दिया है, वे उसी सीमा तक बुद्ध की मध्यम-मार्गीय देशना से पीछे भी हटे हैं।

स्वाहित और लोकहित के सम्बन्ध में गीता का मन्तव्य—गीता मे सदैव ही स्वहित के ऊपर लोकहित की प्रतिष्ठा हुई है। गीताकार की दृष्टि में जो अपने लिए ही पकाता है और खाता है वह पाप ही खाता है।[1] स्वहित के लिए जीने वाला व्यक्ति गीता की दृष्टि मे अधार्मिक और नीच है। गीताकार के अनुसार जो व्यक्ति प्राप्त भोगों को देनेवाले देवों को दिए बिना, उनका ऋण चुकाये बिना खाता है वह चोर है[2]। सामाजिक दायित्वों का निर्वाह न करना गीता की दृष्टि में भारी अपराध है।

गीता के अनुसार लोकहित करना मनुष्य का कर्तव्य है। सर्व प्राणियों के हित-सम्पादन में लगा हुआ पुरुष ही परमात्मा को प्राप्त करता है। वह ब्रह्म-निर्वाण का अधिकारी होता है।[3] जिसे कर्म करने से कोई प्रयोजन नहीं रह गया है अर्थात् जो जीवनमुक्त हो गया है, जिसे संसार के प्राणियों से कोई मतलब नहीं, उसे भी लोक-हितार्थ कर्म करते रहना चाहिए।[4] श्रीकृष्ण अर्जुन से यही कहते हैं कि लोकसंग्रह (लोकहित) के लिए तुझे कर्तव्य करना उचित है।[5] गीता में भगवान् के अवतार धारण करने का उद्देश्य साधुजनों की रक्षा, दुष्टों का नाश और धर्म की संस्थापना है।[6]

इस प्रकार जैन, बौद्ध और गीता इन तीनों परम्पराओं मे तीर्थंकर, बुद्ध और ईश्वर का कार्य लोकहित या लोकमंगल ही माना गया है। यद्यपि जैन व बौद्ध विचारणाओं में तीर्थंकर एवं बुद्ध का कार्य मात्र धर्म-संस्थापना और लोक-कल्याण है। वे गीता के कृष्ण के समान धर्म-संस्थापना के साथ-साथ न तो साधु जनों की रक्षा का दावा करते हैं और न दुष्टों के प्रहाण की बात कहते हैं। दुष्टों के प्रहाण की बात उनकी विशुद्ध अहिंसक प्राणी से मेल नहीं खाती है। यद्यपि अगुत्तरनिकाय में बुद्ध ने शिक्षापदों की प्रज्ञप्ति के जो कारण दिए हैं वे गीता के समान ही है।[7] तथापि लोक-मंगल के आदर्श को लेकर तीनों विचारणाओं में महत्त्वपूर्ण साम्य है। इन आचार-दर्शनों का केन्द्रीय या

१. गीता ३।१३
२. वही, ३।१२
३. वही, ५।२५, १२।४
४. वही, ३।१८
५. वही, ३।२०
६. वही, ४।८
७. तुलना कीजिए, गीता ४।८ तथा अंगुत्तरनिकाय, २।१६

प्रधान तत्त्व परोपकार ही है, यद्यपि उसे अध्यात्म या परमार्थ का विरोधी नहीं होना चाहिए। गीता में भी जिन-जिन स्थानों पर लोकहित का निर्देश है, वहाँ निष्कामता की शर्त है ही। निष्काम और आध्यात्मिक या नैतिक तत्त्वों के अविरोध में रहा हुआ परार्थ ही गीता को मान्य है। गीता में भी स्वार्थ और परार्थ की समस्या का सच्चा हल आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना में खोजा गया है। जब सभी में आत्मदृष्टि उत्पन्न हो जाती है तो न स्वार्थ रहता है, न परार्थ; क्योंकि जहाँ 'स्व' हो वहाँ स्वार्थ रहता है। जहाँ पर हो, वहाँ परार्थ रहता है। लेकिन सर्वात्मभाव में 'स्व' और 'पर' नहीं होते हैं, अतः उस दशा में स्वार्थ और परार्थ भी नहीं होता है। वहाँ होता है केवल परमार्थ। भौतिक स्वार्थों से ऊपर परार्थ का स्थान सभी को मान्य है। स्वार्थ और परार्थ के सम्बन्ध में भारतीय आचार-दर्शनों के दृष्टिकोण को भर्तृहरि के इस कथन से भलीभाँति समझा जा सकता है—प्रथम, जो स्वार्थ का परित्याग कर परार्थ के लिए कार्य करते हैं वे महान् हैं; दूसरे, जो स्वार्थ के अविरोध में परार्थ करते हैं अर्थात् अपने हितों का हनन नहीं करते हुए लोकहित करते हैं वे सामान्य जन हैं; तीसरे, जो स्वहित के लिए परहित का हनन करते है वे अधम (राक्षस) कहे जाते हैं; लेकिन चौथे, जो निरर्थक ही दूसरों का अहित करते हैं उन्हें क्या कहा जाए, वे तो अधमाधम हैं।[1] फिर भी हमें यह ध्यान रखना होगा कि भारतीय चिन्तन में परार्थ या लोकहित अन्तिम तत्त्व नहीं है। अन्तिम तत्त्व है परमार्थ या आत्मार्थ। पाश्चात्य आचार-दर्शन में स्वार्थ और परार्थ की समस्या का अन्तिम हल सामान्य शुभ में खोजा गया, जबकि विशेष रूप से जैन-दर्शन में और सामान्य रूप से समग्र भारतीय चिन्तन में इस समस्या का हल परमार्थ या आत्मार्थ में खोजा गया। नैतिक चेतना के विकास के साथ लोकमंगल की साधना भारतीय चिन्तन का मूलभूत साध्य रहा है।

ऐसी लोकमंगल की सर्वोच्च भावना का प्रतिबिम्ब हमें आचार्य शान्तिदेव के शिक्षासमुच्चय नामक ग्रन्थ में मिलता है। हिन्दी में अनूदित उनकी निम्न पंक्तियाँ मननीय हैं:—

इस दुःखमय नरलोक में,
जितने दलित, बन्धग्रसित पीड़ित विपत्ति विलीन हैं;
जितने बहुधन्धी विवेक विहीन हैं।
जो कठिन भय से और दारुण शोक से अतिदीन हैं,
वे मुक्त हो निजबन्ध से, स्वच्छन्द हो सब द्वन्द्व से,
छूटे दलन के फन्द से,

१. तुलना कीजिए-अंगुत्तरनिकाय भाग १, पृ० १०१७. नीतिशतक (भर्तृहरि), ७४

हो ऐसा जग में, दुःख से विचले न कोई,
वेदनार्थ हिले न कोई, पाप कर्म करे न कोई,
असन्मार्ग धरे न कोई,
हो सभी सुखशील, पुण्याचार धर्मव्रती,
सबका ही परम कल्याण,
सबका ही परम कल्याण ।[1]

●

---

१. शिक्षासमुच्चय—पृ० १० अनूदित धर्मदूत, मई १९४१

३ वर्णाश्रम-व्यवस्था

वर्ण-व्यवस्था—भारतीय नैतिक चिन्तन के सामाजिक प्रश्नों में वर्ण-व्यवस्था का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। सामाजिक नैतिकता का प्रश्न वर्ण-व्यवस्था से निकट रूप से सम्बन्धित है, अतः यहाँ वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार कर लेना आवश्यक है।

जैनधर्म और वर्ण-व्यवस्था—जैन आचार-दर्शन में साधना-मार्ग का प्रवेश द्वार बिना किसी भेदभाव के सभी के लिए खुला है। उसमें धनी अथवा निर्धन, उच्च अथवा नीच का कोई विभेद नहीं है। आचारांगसूत्र में कहा है कि साधना-मार्ग का उपदेश सभी के लिए समान है। जो उपदेश एक धनवान या उच्चकुल के व्यक्ति के लिए है, वही उपदेश गरीब या निम्नकुलोत्पन्न व्यक्ति के लिए है।[1] उसके साधनापथ में हरिकेशी बल जैसे चाण्डाल, अर्जुनमाली जैसे घोर हिंसक और पुनिया जैसे अत्यन्त निर्धन व्यक्ति का भी वही स्थान है जो स्थान इन्द्रभूति जैसे वेदपाठी ब्राह्मणपुत्र अथवा दशार्णभद्र और श्रेणिक जैसे नरेशों और धन्ना तथा शालिभद्र जैसे श्रेष्ठिरत्नों का है। जैनागमों में वर्णित हरिकेशीबल और अनाथी मुनि के कथानक जाति-भेद तथा धन के अहंकार पर करारी चोट करते हैं। धर्म-साधना का उपदेश तो उस वर्षा के समान है जो ऊँचे पर्वतों पर नीचे खेत-खलिहानों पर, सुन्दर महल अटारियों पर और झोपड़ियों पर समान रूप से होती है। यह बात अलग है कि उस वर्षा के जल को कौन कितना ग्रहण करता है। साधना का राजमार्ग तो उसका है जो उसपर चलता है, फिर वह चलने वाला पूर्व में दुराचारी रहा हो या सदाचारी, धनी रहा हो या निर्धन, उच्चकुलोत्पन्न रहा हो या निम्नकुलोत्पन्न। जैन आचार्य श्रुति के इस कथन को स्वीकार नहीं करते हैं कि ब्राह्मणों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रियों की बाहु से, वैश्यों की जाँघ से तथा शूद्रों की पैरों से होती है[2]। जन्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र प्रधान वर्ण-व्यवस्था जैनधर्म को स्वीकार नहीं है। जैनाचार्यों का कहना है कि सभी मनुष्य योनि से ही उत्पन्न होते हैं।[3] अतः ब्रह्मा के विभिन्न अंगों से उनकी उत्पत्ति बताकर शारीरिक अंगों की उत्तमता या निकृष्टता के आधार पर वर्ण-व्यवस्था का विधान नहीं किया जा सकता। शारीरिक विभिन्नता के आधार पर भी किया जाने वाला वर्गीकरण मात्र स्थावर, पशु-पक्षी इत्यादि के विषय में ही सत्य हो सकता

१. आचारांग १।२।६।१०२

२. यजुर्वेद, ३१।१०, ऋग्वेद पुरुषसूक्त १०।९०।१२

३. अभिधान राजेन्द्र खण्ड ४, पृ० १४४१

सकता है, मनुष्यों के सम्बन्ध में नहीं। जन्मना सभी मनुष्य समान हैं। मनुष्यों की एक ही जाति है।[1] जन्म के आधार पर जाति का निश्चय नहीं किया जा सकता। मत्स्यगंधा (मल्लाह की कन्या) के गर्भ में महर्षि पराशर द्वारा उत्पन्न महामुनि व्यास अपने उत्तम कर्मों के कारण ब्राह्मण कहलाये। मतलब यह कि कर्म या आचरण के आधार पर ही चातुर्वर्ण्य व्यवस्था निर्णय करना उचित है। जिस प्रकार शिल्प-कला का व्यवसायी शिल्पी कहलाता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला ब्राह्मण कहलाता है। जैन-विचारणा जन्मना जातिवाद का निरसन करती है। कर्मणा वर्ण-व्यवस्था से उसका कोई सैद्धान्तिक विरोध नहीं है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि मनुष्य कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है और कर्म से ही वैश्य और शूद्र होता है।[2] मुनि चौथमल जी निर्ग्रन्थ-प्रवचन भाष्य में कहते हैं कि एक व्यक्ति दुःशील, अज्ञानी और प्रकृति से तमोगुणी होने पर भी अमुक वर्ण वाले के घर में जन्म लेने के कारण समाज में पूज्य, आदरणीय, प्रतिष्ठित और ऊँचा समझा जाय, और दूसरा व्यक्ति सुशील, ज्ञानी और सतोगुणी होने पर भी केवल अमुक कुल में जन्म लेने के कारण नीच और तिरस्करणीय माना जाय, यह व्यवस्था समाजघातक है। इतना ही नहीं, ऐसा मानने से न केवल समाज के एक बहुसंख्यक भाग का अपमान होता है, प्रत्युत यह सद्गुण और सदाचार का भी घोर अपमान होता है। इस व्यवस्था को अंगीकार करने से दुराचारी सदाचारी से ऊँचा उठ जाता है, अज्ञान ज्ञान पर विजयी होता है और तमोगुण सतोगुणके सामने आदरास्पद बन जाता है। यह ऐसी स्थिति है जो गुणग्राहक विवेकीजनों को सह्य नहीं हो सकती[3] अर्थात् जाति की अपने आपमें कोई विशेषता नहीं है, महत्त्व नैतिक सदाचरण (तप) का है। जैन-विचारणा यह तो स्वीकार करती है कि लोक-व्यवहार या आजीविका के हेतु किये गये कर्म (व्यवसाय) के आधार पर समाज का वर्गीकरण किया जा सकता है, लेकिन इस व्यावसायिक या सामाजिक व्यवस्था के क्षेत्र में किये जाने वाले विभिन्न कर्मों के वर्गीकरण के आधार पर किसी वर्ग की श्रेष्ठता या हीनता का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। किसी व्यक्ति की श्रेष्ठता या हीनता का आधार व्यावसायिक कर्म नहीं है, वरन् व्यक्ति की नैतिक योग्यता या सद्गुणों का विकास है। उत्तराध्ययन में निर्देश है कि साक्षात् तप का ही माहात्म्य दिखाई देता है, जाति की कुछ भी विशेषता नहीं दिखाई देती। चाण्डालपुत्र हरिकेशी मुनि को देखो, जिनकी महाप्रभावशाली ऋद्धि है।[4]

इस प्रकार हम देखते है कि जैन विचारणा का वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में निम्न दृष्टिकोण है। १. वर्ण-व्यवस्था जन्म के आधार पर स्वीकार नहीं की गई वरन् उसका

१. अभिधान राजेन्द्र खण्ड ४, पृ० १४४१ २. उत्तराध्ययन, २५।३३
३. निर्ग्रन्थ-प्रवचन-भाष्य, पृ० २८९ ४. उत्तराध्ययन, १२।३७

आधार कर्म है। २. वर्ण परिवर्तनीय है। ३. श्रेष्ठत्व का आधार वर्ण या व्यवसाय नहीं, वरन् नैतिक विकास है। ४. नैतिक साधना का द्वार सभी के लिए समान रूप से खुला है। चारों ही वर्ण श्रमण-संस्था में प्रवेश पाने के अधिकारी हैं। यद्यपि प्राचीन समय में श्रमण-संस्था में चारों ही वर्ण प्रवेश के अधिकारी थे, यह आगमिक प्रमाणों से सिद्ध है; लेकिन परवर्ती जैन आचार्यों ने मातङ्ग, मछुआ आदि जाति-जुङ्गित और नट, पारधी आदि कर्म-जुङ्गित लोगों को श्रमण-संस्था में प्रवेश के अयोग्य माना। लेकिन यह जैन-विचारधारा का मौलिक मन्तव्य नहीं है, वरन् ब्राह्मण-परम्परा का प्रभाव है। इस व्यवस्था का विधान करनेवाले आचार्य ने इसके लिए मात्र लोकापवाद का ही तर्क दिया है, जो अपने आपमें कोई ठोस तर्क नहीं वरन् अन्य परम्परा के प्रभाव का ही द्योतक है।[1] इसी प्रकार दक्षिण में विकसित जैनधर्म की दिगम्बर-परम्परा में जो शूद्र के अन्न-जल ग्रहण का निषेध तथा शूद्र की मुक्ति निषेध की अवधारणाएँ विकसित हुई हैं, वे भी ब्राह्मण-परम्परा का प्रभाव है।

बौद्ध आचार दर्शन में वर्ण-व्यवस्था—बौद्ध आचार-दर्शन भी वर्ण-धर्म का निषेध नहीं करता है, लेकिन वह उनको जन्मगत आधार पर स्थित नहीं मानता है। बौद्ध-धर्म के अनुसार भी वर्णव्यवस्था जन्मना नहीं, कर्मणा है। कर्मों से ही मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र बनता है, न कि उन कुलों में जन्म लेने मात्र से। बौद्धागमों में जातिवाद के खण्डन के अनेक प्रसंग मिलते हैं, लेकिन उन सबका मूलाशय यही है कि जाति या वर्ण आचरण के आधार पर बनता है, न कि जन्म के आधार पर। भगवान् बुद्ध ने जहाँ कहीं जातिवाद का निरसन किया है, वहाँ जाति से उनका तात्पर्य शरीर रचना सम्बन्धी विभेद से नहीं, जन्मना जातिवाद से ही है। बुद्ध के अनुसार जन्म के आधार पर किसी प्रकार के जातिवाद की स्थापना नहीं की जा सकती। सुत्तनिपात के निम्न प्रसंग में इस बात को स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

वसिष्ठ एवं भरद्वाज जातिवाद सम्बन्धी विवाद को लेकर बुद्ध के सम्मुख उपस्थित होते हैं। वसिष्ठ बुद्ध से कहते हैं, "गौतम! जाति-भेद के विषय में हमारा विवाद है, भरद्वाज कहता है कि ब्राह्मण जन्म से होता है, मैं तो कर्म से बताता हूँ। हमलोग एक दूसरे को अवगत नहीं कर सकते हैं, इसलिए सम्बुद्ध (नाम से) विख्यात आपसे (इस विषय में) पूछने आये हैं।"

बुद्ध कहते हैं, "हे वसिष्ठ! मैं क्रमशः यथार्थ रूप से प्राणियों के जातिभेद को बताता हूँ जिनसे भिन्न-भिन्न जातियाँ होती हैं। तृण, वृक्षों को जानो। यद्यपि वे इस बात का दावा ही नहीं करते, फिर भी उनमें जातिमय लक्षण है जिससे भिन्न-भिन्न जातियाँ होती हैं। कीटों, पतंगों और चीटियों तक में जातिमय लक्षण हैं जिससे उनमें भिन्न-भिन्न

१. प्रवचन-सारोद्धार १०७

जातियाँ होती हैं। छोटे-बड़े जानवरों को भी जानो, उनमें भी जाति मय लक्षण हैं जिससे भिन्न-भिन्न जातियाँ होती हैं। जिस प्रकार इन जातियों में भिन्न-भिन्न जातिमय लक्षण हैं, उस प्रकार मनुष्यों में भिन्न-भिन्न जातिमय लक्षण नहीं हैं।

''ब्राह्मण माता की कोख से उत्पन्न होने से ही मैं किसी को ब्राह्मण नहीं कहता। जो सम्पत्तिशाली है (वह) धनी कहलाता है; जो अकिंचन है, तृष्णा रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। न कोई जन्म से ब्राह्मण होता है और न जन्म से अब्राह्मण। ब्राह्मण कर्म से होता है और अब्राह्मण भी कर्म से। कृषक कर्म से होता है, शिल्पी कर्म से होता है, वणिक् कर्म से होता है, और सेवक भी कर्म से होता है, चोर भी कर्म से होता है, योद्धा भी कर्म से होता है, याचक भी कर्म से होता है और राजा भी कर्म से होता है।''[1]

इस प्रकार बुद्ध जन्मना जातिवाद के स्थान पर कर्मणा जातिवाद की धारणा को स्वीकार करते हैं, लेकिन कर्मणा जातिवाद की मान्यता में भी बुद्ध न तो यह स्वीकार करते हैं कि वैयक्तिक दृष्टि से जातिवाद कोई स्थायी तत्व है, जिसमें जन्म लेने पर या उस व्यवसाय के चयन के बाद परिवर्तन नहीं कर सकता और न यह है कि व्यवसायों की दृष्टि से कोई उच्च और कोई नीच है। बुद्ध ब्राह्मणों के श्रेष्ठत्व को भी स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि कोई भी मनुष्य आचरण (नैतिक विकास) के आधार पर श्रेष्ठ या निकृष्ट होता है, न कि जाति या व्यवसाय के आधार पर। भगवान् बुद्ध की उपर्युक्त धारणा का स्पष्टीकरण मज्झिमनिकाय के अस्सलायनसुत्त में मिलता है, जिसमें भगवान् बुद्ध ने जाति-भेद सम्बन्धी मिथ्या धारणाओं का निरसन कर चारों वर्णों के मोक्ष या नैतिक शुद्धि की धारणा की प्रतिस्थापना की है। उक्त सुत्त के कुछ महत्त्वपूर्ण अंश निम्न प्रकार हैं। हे गौतम! ब्राह्मण ऐसा कहते हैं—ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है, दूसरे वर्ण छोटे हैं। ब्राह्मण ही शुक्ल वर्ण है, दूसरे वर्ण कृष्ण हैं। ब्राह्मण ही शुद्ध है, अब्राह्मण नहीं। ब्राह्मण ही ब्रह्मा के औरस पुत्र हैं, उनके मुख से उत्पन्न हैं, ब्रह्मनिर्मित हैं, ब्रह्मा के दायाद (उत्तराधिकारी) हैं। इस विषय में आप क्या कहते हैं?[2] बुद्ध ने इसका प्रतिवाद करते हुए वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है।

ब्राह्मण कहना झूठ है—आश्वलायन ब्राह्मणों की ब्राह्मणियाँ ऋतुमती एवं गर्भिणी होती, प्रसव करती, दूध पिलाती देखी जाती हैं। योनि से उत्पन्न होते हुए भी वे ऐसा कहते हैं कि ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है। इस प्रकार बुद्ध ब्राह्मण के ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने की धारणा का खण्डन करते हैं।

१. सुत्तनिपात, ३५।३-३७, ५७-५९
२. मज्झिमनिकाय २।५।३-उद्धृत-जातिभेद और बुद्ध, पृ० ७

वर्ण-परिवर्तन सम्भव है—तो क्या मानते हो आश्वलायन ! तुमने सुना है कि यवन, कम्बोज और दूसरे भी सीमान्त देशों में दो ही वर्ण होते हैं आर्य और दास (गुलाम) आर्य भी दास हो सकता है और दास भी आर्य हो सकता है ।[1]

हाँ, मैंने सुना है कि यवन और कम्बोज में ऐसा होता है । इस आधार पर बुद्ध वर्ण-परिवर्तन को सम्भव मानते हैं ।

सभी जाति समान है—तो क्या मानते हो आश्वलायन ! क्षत्रिय प्राणिहिंसक, चोर, दुराचारी, झूठा, चुगलखोर, कटुभाषी, बकवादी, लोभी, द्वेषी, झूठी धारणा वाला हो, तो शरीर छोड़ मरने के बाद नरक में उत्पन्न होगा या नहीं ? ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, प्राणि-हिंसक हो, तो नरक में उत्पन्न होंगे या नहीं ? 'हे गौतम क्षत्रिय भी प्राणि-हिंसक हो तो नरक में उत्पन्न होगा और ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र भी ।'

"तो क्या मानते हो आश्वलायन ! क्या ब्राह्मण ही प्राणि-हिंसा से विरत हो, तो अच्छी गति प्राप्त कर स्वर्ग लोक में उत्पन्न हो सकता है और क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ण नहीं ।"

"नहीं, हे गौतम ! क्षत्रिय भी यदि प्राणिहिंसा से विरत हो, तो अच्छी गति प्राप्त कर स्वर्गलोक में उत्पन्न हो सकता है और ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र वर्ण भी ।"

"तो क्या मानते हो आश्वलायन ! क्या ब्राह्मण ही वैर रहित, द्वेष रहित मैत्री-चित्त की भावना कर सकता है, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र नहीं ।"

इस प्रकार बुद्ध स्वयं आश्वलायन के प्रति उत्तरों से ही सभी जातियों की समानता का प्रतिपादन करते हैं और यह बताते हैं कि सभी नैतिक विकास कर सकते हैं ।

आचरण ही श्रेष्ठ है—तो क्या मानते हो आश्वलायन ! यदि यहाँ दो माणवक जुड़वे भाई हों, एक अध्ययन करने वाला, उपनीत, किन्तु दुःशील, पापी हो; दूसरा अध्ययन न करने वाला, अनुपनीत, किन्तु शीलवान्, पुण्यात्मा हो । इनमें ब्राह्मण श्राद्ध, यज्ञ या पहुनाई में पहले किसको भोजन करायेंगे ।"

"हे गौतम ! वह माणवक जो अध्ययन न करने वाला, अनुपनीत, किन्तु शीलवान्, कल्याणधर्मा है, उसी को ब्राह्मण पहले भोजन करायेंगे । दुःशील, पापधर्मा को दान देने से क्या महाफल होगा ?"

"आश्वलायन ! पहले तू जाति पर पहुँचा, जाति से मंत्रों पर पहुँचा, मंत्रों से अब तू चातुर्वर्णी-शुद्धि पर आ गया, जिसका मैं उपदेश करता हूँ ।[2]

गीता तथा वर्ण-व्यवस्था—वास्तव में हिन्दू आचार-दर्शन में भी वर्ण-व्यवस्था जन्म

१. मज्झिमनिकाय २।५।३-उद्धृत जातिभेद और बुद्ध, पृ० ८
२. मज्झिमनिकाय, २।५।३

पर नहीं, वरन् कर्म पर ही आधारित है। गीता में श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का निर्माण गुण और कर्म के आधार पर ही किया गया है।[1] डॉ० राधाकृष्णन् लिखते हैं, यहाँ जोर गुण और कर्म पर दिया गया है, जाति (जन्म) पर नहीं। हम किस वर्ण के हैं, यह बात लिंग या जन्म पर निर्भर नहीं है। स्वभाव और व्यवसाय द्वारा निर्धारित जाति नियत होती है।[2] युधिष्ठिर कहते हैं, "तत्वज्ञानियों की दृष्टि में केवल आचरण (सदाचार) ही जाति का निर्धारक तत्त्व है।"[3] वनपर्व में कहा गया है, "ब्राह्मण न जन्म से होता है, न संस्कार से, न कुल से, और न वेद के अध्ययन से, ब्राह्मण केवल व्रत (आचरण) से होता है।"[4] बौद्धागम सुत्त-निपात के समान महर्षि अत्रि भी कहते हैं, जो ब्राह्मण धनुष-बाण और अस्त्र-शस्त्र लेकर युद्ध में विजय पाता है वह क्षत्रिय कहलाता है। जो ब्राह्मण खेती बाड़ी और गोपालन करता है, जिसका व्यवसाय वाणिज्य है वह वैश्य कहलाता है। जो ब्राह्मण लाख, लवण, केसर, दूध, मक्खन, शहद और मांस बेचता है वह शूद्र कहलाता है। जो ब्राह्मण चोर, तस्कर, नट का कर्म करने वाला, मांस काटने वाला और मांस-मत्स्य भोगी है वह निषाद कहलाता है। क्रियाहीन, मूर्ख सर्व धर्म विवर्जित, सब प्राणियों के प्रति निर्दय ब्राह्मण चाण्डाल कहलाता है।[5]

डा० भिखन लाल आत्रेय ने भी गुण-कर्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था का समर्थन किया है[6]—(अ) प्राचीन वर्ण-व्यवस्था कठोर नहीं थी, लचीली थी। वर्ण-परिवर्तन का अधिकार व्यक्ति के अपने हाथ में था, क्योंकि आचरण के कारण वर्ण परिवर्तित हो जाता था। उपनिषदों में वर्णित सत्यकाम जाबाल की कथा इसका उदाहरण है।[7] सत्य-काम जाबाल की सत्यवादिता के आधार पर ही उसे ब्राह्मण मान लिया गया था। (ब) मनुस्मृति में भी वर्ण-परिवर्तन का विधान है; लिखा है कि "सदाचार के कारण शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और दुराचार के कारण ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। यही बात क्षत्रिय और वैश्य के सम्बन्ध में भी है।"[8] नैतिक दृष्टि से गीता के आचार-दर्शन के अनुसार भी कोई एक वर्ण दूसरे वर्ण से श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि नैतिक विकास वर्ण पर निर्भर नहीं होता है। व्यक्ति स्वाभावानुकूल किसी भी वर्ण के नियत कर्मों का सम्पादन करते हुए नैतिक पूर्णता या सिद्धि को प्राप्त कर सकता है।[9] वर्ण-व्यवस्था के द्वारा निहित कर्म नैतिक दृष्टि से अच्छे या बुरे नहीं होते,[10] सहज कर्म सदोष होने पर त्याज्य नहीं होते।[11]

---

१. गीता ४।१३, १८।४१ २. भगवद्गीता (रा०), पृ० १६३
३. उद्धृत–भगवद्गीता (रा०), पृ० १६३ ४. महाभारत वनपर्व ३१३।१०८
५. अत्रिस्मृति, १।३७४-३८०
६. भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास पृ० ६७५ ७. छान्दोग्य० ४।४
८. मनुस्मृति, १०।६५ ९. गीता, १८।४५-४६
१०. वही, १८।४७ ११. वही, १८।४८

क्योंकि वे नैतिक विकास को अवरुद्ध नहीं करते। वस्तुतः गीता में वर्ण-व्यवस्था के पीछे जो गुण-कर्म की धारणा है, उसे किंचित् गहराई से समझना होगा। गुण और कर्म में भी, वर्ण-निर्धारण में गुण प्राथमिक हैं, कर्म का चयन तो स्वयं ही गुण पर निर्भर है। गीता का मुख्य उपदेश अपनी योग्यता या गुण के आधार पर कर्म करने का है। उसका कहना है कि योग्यता, स्वभाव अथवा गुण के आधार पर ही व्यक्ति की सामाजिक जीवन प्रणाली का निर्धारण होना चाहिए।[१] समाज-व्यवस्था में अपने कर्तव्य-निर्वाह और आजीवका के उपार्जन के हेतु व्यक्ति को कौनसा व्यवसाय या कर्म चुनना चाहिए, यह बात उसकी योग्यता अथवा स्वभाव पर ही निर्भर है। यदि व्यक्ति अपने गुणों या योग्यताओं के प्रतिकूल व्यवसाय या सामाजिक कर्तव्य को चुनता है, तो उसके इस चयन से जहाँ उसके जीवन की सफलता धूमिल होती है वहीं समाज-व्यवस्था भी अस्तव्यस्तता आती है।

गीता में वर्ण-व्यवस्था के पीछे एक मनोवैज्ञानिक आधार रहा है जिसका समर्थन डा० राधाकृष्णन् और पाश्चात्य विचारक श्री गेरल्ड हर्ड ने भी किया है।[१] मानवीय स्वभाव में ज्ञानात्मकता या जिज्ञासावृत्ति, साहस या नेतृत्व-वृत्ति, संग्रहात्मकता और शासित होने की प्रवृत्ति या सेवा भावना पायी जाती है। सामान्यतः मनुष्यों मे इन वृत्तियों का समान रूप से विकास नहीं होता है। प्रत्येक मनुष्य में इनमें से किसी एक का प्राधान्य होता है। दूसरी ओर सामाजिक दृष्टि से समाज-व्यवस्था में चार प्रमुख कार्य हैं १. शिक्षण, २. रक्षण, ३. उपार्जन और ४. सेवा। अतः यह आवश्यक माना गया है कि व्यक्ति अपने स्वभाव में जिस वृत्ति का प्राधान्य हो, उसके अनुसार सामाजिक व्यवस्था में अपना कार्य चुने। जिसमें बुद्धि नैर्मल्य और जिज्ञासा-वृत्ति हो, वह शिक्षण का कार्य करे, जिसमें साहस और नेतृत्व-वृत्ति हो वह रक्षण का कार्य करे, जिसमें विनियोग तथा संग्रह-वृत्ति हो वह उपार्जन का कार्य करे और जिसमें दैन्यवृत्ति या सेवावृत्ति हो वह सेवाकार्य करे। इस प्रकार जिज्ञासा, नेतृत्व, विनियोग और दैन्य की स्वभाविक वृत्तियों के आधार पर शिक्षण, रक्षण, उपार्जन और सेवा के सामाजिक कार्यों का विभाजन किया गया और इसी आधार पर क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये वर्ण बने। इस स्वभाव के अनुसार व्यवसाय या वृत्ति में विभाजन में श्रेष्ठत्व और हीनत्व का कोई प्रश्न नहीं उठता। गीता तो स्पष्ट रूप से कहती है कि जिज्ञासा, नेतृत्व, संग्रहवृत्ति और दैन्य आदि सभी वृत्तियाँ त्रिगुणात्मक हैं अतः सभी दोषपूर्ण हैं।[२] गीता की दृष्टि में नैतिक श्रेष्ठत्व इस बात पर निर्भर नहीं है कि व्यक्ति क्या कर रहा है या किन सामाजिक कर्तव्यों का पालन कर रहा है, वरन् इस बात पर निर्भर है कि वह उनका

---

१. भगवद्गीता (रा०), पृ० ३५३ २. गीता, १८।४८, गीता (शां०) १८।४१, ४८

पालन किस निष्ठा और योग्यता के साथ कर रहा है। गीता के अनुसार यदि एक शूद्र अपने कर्तव्यों का पालन पूर्ण निष्ठा और कुशलता से करता है तो वह अनैष्ठिक और अकुशल ब्राह्मण की अपेक्षा नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ है। गीता के आचार-दर्शन की भी यह विशिष्टता है कि वह भी जैन-दर्शन के समान साधना पथ का द्वार सभी के लिए खोल देता है। गीता यद्यपि वर्णाश्रम धर्म को स्वीकृत करती है, लेकिन उसका वर्णाश्रम धर्म तो सामाजिक मर्यादा के सन्दर्भ में ही है। आध्यात्मिक विकास का सामाजिक मर्यादाओं के परिपालन से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। गीता स्पष्टतया यह स्वीकार करती है कि व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से स्वस्थान के निम्नस्तरीय कर्मों का सम्पादन करते हुए भी आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से ऊँचाइयों पर पहुँच सकता है।

श्री कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि व्यक्ति चाहे अत्यन्त दुराचारी रहा हो अथवा स्त्री, शूद्र या वैश्य हो अथवा ब्राह्मण या राजर्षि हो, यदि वह सम्यक्रूपेण मेरी उपासना करता है तो वह श्रेष्ठ गति को ही प्राप्त करता है।[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता के अनुसार आध्यात्मिक विकास का द्वार सभी के लिए समान रूप से खुला हुआ है। जो लोग नैतिक या आध्यात्मिक विकास को आचरण के बाह्य तथ्यों या वैयक्तिक जीवन के पूर्वरूप या व्यक्ति के सामाजिक स्वस्थान से बाँधने की कोशिश करते हैं, वे भ्रान्ति में हैं। गीता के आचार-दर्शन के अनुसार सामाजिक स्वस्थान के कर्तव्यों के परिपालन और नैतिक या आध्यात्मिक विकास के कर्तव्यों में कोई संघर्ष नहीं क्योंकि दोनों के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार गीता के अनुसार वर्ण-व्यवस्था का सम्बन्ध सामाजिक कर्तव्यों के परिपालन से है। लेकिन विशिष्ट सामाजिक कर्तव्यों के परिपालन से व्यक्ति श्रेष्ठ या हीन नहीं बन जाता है, उसकी श्रेष्ठता और हीनता का सम्बन्ध तो उसके नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास से है।

इस प्रकार जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में समान दृष्टिकोण रखते हैं। उनके दृष्टिकोण को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

१. वर्ण का आधार जन्म नहीं वरन् गुण (स्वभाव) और कर्म है।
२. वर्ण अपरिवर्तनीय नहीं है। व्यक्ति अपने स्वभाव, आचरण और कर्म में परिवर्तन कर वर्ण परिवर्तित कर सकता है।
३. वर्ण का सम्बन्ध सामाजिक कर्तव्यों से है, लेकिन कोई भी सामाजिक कर्तव्य या व्यवसाय अपने आपमें न श्रेष्ठ है, न हीन है। व्यक्ति की श्रेष्ठता और हीनता उसके सामाजिक कर्तव्य पर नहीं, वरन् उसकी नैतिक निष्ठा पर निर्भर है।
४. नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास का अधिकार सभी वर्ण के लोगों को प्राप्त है।

---

१. गीता, ९।३०, ३२, ३३

आश्रम-धर्म

'आश्रम' शब्द श्रम से बना है। श्रम का अर्थ है प्रयास या प्रयत्न। जीवन के विभिन्न साध्यों की उपलब्धि के लिए प्रत्येक आश्रम में एक विशेष प्रयत्न होता है। जिस प्रकार जीवन के चार साध्य या मूल्य—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष माने गये हैं, उसी प्रकार जीवन के इन चार साध्यों की उपलब्धि के लिए इन चार आश्रमों का विधान है। ब्रह्मचर्याश्रम विद्यार्जन के लिए है और इस रूप में वह चारों ही आश्रमों की एक पूर्व तैयारी रूप है। गृहस्थाश्रम में अर्थ और काम पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए विशेष प्रयत्न किया जाता है जबकि धर्म पुरुषार्थ की साधना वानप्रस्थाश्रम में और मोक्ष पुरुषार्थ की साधना संन्यास आश्रम में की जाती है। यह स्मरणीय है कि वर्ण का सिद्धान्त सामाजिक जीवन के लिए है, किन्तु आश्रम का सिद्धान्त वैयक्तिक है। आश्रम सिद्धान्त यह बताता है कि व्यक्ति का आध्यात्मिक लक्ष्य क्या है, उसे अपने को किस प्रकार ले चलना है तथा अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसे कैसी तैयारी करनी है। डा० काणे के अनुसार आश्रम-सिद्धान्त एक उत्कृष्ट धारणा थी। भले ही इसे भलीभाँति क्रियान्वित नहीं किया जा सका, परन्तु इसके लक्ष्य या उद्देश्य बड़े ही महान् और विशिष्ट थे।[1] आश्रम-संस्था का विकास कब हुआ, यह कहना कठिन है। लगभग सभी भारतीय आचार-दर्शनों के ग्रन्थों में आश्रम-सिद्धान्त सम्बन्धी विवेचन उपलब्ध हो जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् के काल तक हमें तीन आश्रमों का विवेचन उपलब्ध होता है। उस युग तक संन्यास आश्रम की विशेष चर्चा सुनाई देती है। संन्यास और वानप्रस्थ सामान्यतया एक ही माने गये थे, लेकिन परवर्ती साहित्य में चारों ही आश्रमों का विधान और उसके विधि-निषेध के नियम विस्तार से उपलब्ध है।

वैदिक परम्परा में चारों आश्रमों के सम्बन्ध में तीन विकल्पों की चर्चा उपलब्ध होती है:—१. समुच्चय, २. विकल्प एवं ३. बाध। मनु ने इन चारों आश्रमों में समुच्चय का सिद्धान्त स्वीकार किया है। उनके अनुसार प्रत्येक मनुष्य को क्रमशः चारों ही आश्रमों का अनुसरण करना चाहिए। दूसरे मत के अनुसार आश्रमों की इस अवस्था में विकल्प हो सकता है, अर्थात् मनुष्य इच्छानुसार इनमें से किसी एक आश्रम को ग्रहण कर सकता है। बाध के सिद्धान्त के अनुसार गृहस्थाश्रम ही एक मात्र वास्तविक आश्रम है और अन्य आश्रम अपेक्षाकृत उससे कम मूल्य वाले हैं। आश्रम-व्यवस्था के सन्दर्भ में विकल्प सिद्धान्त यह मानता है कि ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास में से किसी भी आश्रम को ग्रहण किया जा सकता है। जाबालोपनिषद् एवं आचार्य शंकर ने इस मत का समर्थन किया है। उनके अनुसार जब भी वैराग्य उत्पन्न

१ विस्तृत विवेचन के लिए देखिए—धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० २६४-२६७

हो जाय तभी प्रव्रज्या ग्रहण कर लेना चाहिए।[1] बाध सिद्धान्त को मानने वाले गौतम एवं बोधायन हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार गृहस्थाश्रम ही सर्वोत्कृष्ट है। इस मत के कुछ विचारकों ने वानप्रस्थ एवं संन्यास को कलियुग में वर्ज्य मान लिया है।[2]

वैदिक परम्परा में आश्रम-सिद्धान्त जीवन को चार भागों में विभाजित कर उनमें से प्रत्येक भाग में एक-एक आश्रम के अनुसार जीवन व्यतीत करने का निर्देश देता है। प्रथम भाग में ब्रह्मचर्य, दूसरे में गृहस्थ, तीसरे में वानप्रस्थ और चौथे में संन्यास-आश्रम ग्रहण करना चाहिए।

जैन-परम्परा और आश्रम-सिद्धान्त—श्रमण-परम्पराओं में आयु के आधार पर आश्रमों के विभाजन का सिद्धान्त उपलब्ध नहीं होता। यदि हम वैदिक-विचारधारा की दृष्टि से तुलनात्मक विचार करें तो यह पाते हैं कि श्रमण-परम्पराएँ आश्रम-सिद्धान्त के सन्दर्भ में विकल्प के नियम को ही महत्त्व देती हैं। उनके अनुसार संन्यास-आश्रम ही सर्वोच्च है और व्यक्ति को जब भी वैराग्य उत्पन्न हो जाये तभी इसे ग्रहण कर लेना चाहिये। उनका मत जाबालोपनिषद् और शंकर के अधिक निकट है। श्रमण-परम्पराओं में ब्रह्मचर्याश्रम का भी विशेष विवेचन उपलब्ध नहीं होता। चूँकि श्रमण-परम्पराओं ने आध्यात्मिक जीवन पर ही अधिक जोर दिया अतः उनमें ब्रह्मचर्याश्रम के लौकिक शिक्षाकाल और गृहस्थाश्रम के लौकिक विधानों के सन्दर्भ में कोई विशेष दिशा-निर्देश उपलब्ध नहीं होता। लौकिक जीवन की शिक्षा ग्रहण करने के लिए सामान्यतया व्यावसायिक ब्राह्मण शिक्षकों के पास ही विद्यार्थी जाते थे, क्योंकि श्रमण-वर्ग सामान्यतया आध्यात्मिक शिक्षा ही प्रदान करता था। गृहस्थाश्रम के सन्दर्भ में आध्यात्मिक विकास एवं सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से यद्यपि श्रमण-परम्पराओं में नियम उपलब्ध हैं, लेकिन विवाह एवं पारिवारिक जीवन के सन्दर्भ में सामान्यतया नियमों का अभाव ही है।

यद्यपि परवर्ती जैनाचार्यों ने हिन्दू धर्म की इस आश्रम व्यवस्था को धीरे-धीरे स्वीकार कर लिया और उसे जैन-परम्परा के अनुरूप बनाने का प्रयास किया। आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में यह स्वीकार किया है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षु ये चारों आश्रम जैनधर्म के अनुसार उत्तरोत्तर शुद्धि के परिचायक हैं।[3] जैन परम्परा में ये चारों आश्रम स्वीकृत रहे हैं। ब्रह्मचर्याश्रम को लौकिक जीवन की शिक्षा-काल के रूप में तथा गृहस्थाश्रम को गृहस्थ-धर्म के रूप में एवं वानप्रस्थ आश्रम को ब्रह्मचर्य प्रतिमा से लेकर उद्दिष्टविरत या श्रमणभूत प्रतिमा की साधना के रूप में अथवा सामायिक-चारित्र के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। संन्यास-आश्रम तो श्रमण जीवन के रूप में स्वीकृत है ही। इस प्रकार चारों ही आश्रम जैन-परम्परा में भी

१. जाबालोपनिषद् ३।१ २. देखिए—धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० २६७

३. आदिपुराण ३९।१५२

स्वीकृत हैं। बौद्ध-परम्परा और जैन-परम्परा दोनों में आश्रम-सिद्धान्त के सन्दर्भ में समान दृष्टिकोण ही स्वीकृत रहा है।

बौद्ध-परम्परा और आश्रम-सिद्धान्त—बौद्ध-परम्परा भी जैन-परम्परा के दृष्टिकोण के समान ही आश्रम-सिद्धान्त के सन्दर्भ में विकल्प के सिद्धान्त को स्वीकार करती है। उसके अनुसार संन्यास-आश्रम (श्रमण-जीवन) ही सर्वोच्च है और व्यक्ति जब भी वैराग्य भावना से युक्त हो जाये, उसे प्रव्रज्या ग्रहण कर लेनी चाहिए। बौद्ध-परम्परा में भी ब्रह्मचर्याश्रम शिक्षण-काल के रूप में, गृहस्थाश्रम गृहस्थ-धर्म के रूप में, वानप्रस्थ आश्रम श्रामणेर के रूप में और संन्यास आश्रम श्रमण-जीवन के रूप में स्वीकृत है। जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं का आश्रम-विचार निम्न तालिका से स्पष्ट है:—

	वैदिक-परम्परा	जैन-परम्परा	बौद्ध-परम्परा
१.	ब्रह्मचर्याश्रम	शिक्षण-काल	शिक्षण-काल
२.	गृहस्थाश्रम	गृहस्थ-धर्म	गृहस्थ-धर्म
३.	वानप्रस्थाश्रम	प्रतिमायुक्त गृहस्थ जीवन या सामायिकचारित्र	श्रामणेर दीक्षा
४.	संन्यासाश्रम	छेदोपस्थापनीयचारित्र	उपसम्पदा

सामान्यतः आश्रम-सिद्धान्त का निर्देश यही है कि मनुष्य क्रमशः नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति करता हुआ तथा वासनामय जीवन के ऊपर विजय प्राप्त करता हुआ मोक्ष के सर्वोच्च साध्य को प्राप्त कर सके।

३ स्वधर्म की अवधारणा

गीता में स्वधर्म

गीता जब यह कहती है कि स्वधर्म का पालन करते हुए मरना भी श्रेयस्कर है, क्योंकि परधर्म भयावह है,[१] तो हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि इस स्वधर्म और परधर्म का अर्थ क्या है ? यदि नैतिकता की दृष्टि से स्वधर्म में होना ही कर्तव्य है तो हमें यह जान लेना होगा कि यह स्वधर्म क्या है ।

यदि गीता के दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता के अनुसार स्वधर्म का अर्थ व्यक्ति के वर्णाश्रम के कर्तव्यों के परिपालन से है । गीता के दूसरे अध्याय में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि स्वधर्म व्यक्ति का वर्ण-धर्म है । लोकमान्य तिलक स्वधर्म का अर्थ वर्णाश्रम धर्म ही करते हैं । वे लिखते है कि "स्वधर्म वह व्यवसाय है कि जो स्मृतिकारों की चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक मनुष्य के लिए उसके स्वभाव के आधार पर नियत कर दिया गया है, स्वधर्म का अर्थ मोक्षधर्म नहीं है ।[२] गीता के अठारहवें अध्याय में यह बात अधिक स्पष्ट कर दी गई है कि प्रत्येक वर्ण के स्वभाविक कर्तव्य क्या हैं ।[३] गीता यह मानती है कि व्यक्ति के वर्ण का निर्धारण उसकी प्रकृति, गुण या स्वभाव के आधार पर होता है[४] और उस स्वभाव के अनुसार उसके लिए कुछ कर्तव्यों का निर्धारण कर दिया गया है, जिसका परिपालन करना उसका नैतिक कर्तव्य है । इस प्रकार गीता व्यक्ति के स्वभाव या गुण के आधार पर कर्तव्यों का निर्देश करती है । उन कर्तव्यों का परिपालन करना ही व्यक्ति का स्वधर्म है । गीता का यह निश्चित अभिमत है कि व्यक्ति अपने स्वधर्म या अपने स्वभाव के आधार पर निःसृत स्वकर्तव्य का परिपालन करते हुए सिद्धि या मुक्ति प्राप्त कर लेता है । गीता कहती है कि व्यक्ति अपने स्वाभाविक कर्तव्यों में लगकर उन स्वकर्मों के द्वारा ही उस परमतत्त्व की उपासना करता हुआ सिद्धि प्राप्त करता है ।[५] इस प्रकार गीता व्यक्ति के स्वस्थान के आधार पर कर्तव्य करने का निर्देश करती है । समाज में व्यक्ति के स्वस्थान का निर्धारण उसके अपने स्वभाव (गुण, कर्म) के आधार पर ही होता है । वैयक्तिक स्वभावों का वर्गीकरण और तदनुसार कर्तव्यों का आरोपण गीता में किस प्रकार किया गया है इसकी व्यवस्था वर्ण-धर्म के प्रसंग में की गई है ।

१. गीता, ३।३५
२. गीता रहस्य, पृ० ६७३
३. गीता १८।४१-४८
४. वही, ४।१३
५. वही, १८।४५

जैनधर्म में स्वधर्म

जैन-दर्शन में भी स्वस्थान के अनुसार कर्तव्य करने का निर्देश है। प्रतिक्रमणसूत्र में प्रतिक्रमण की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है कि यदि साधक प्रमादवश स्वस्थान के कर्तव्यों से च्युत होकर पर स्थान के कर्तव्यों को अपना लेता है तो पुनः आलोचनापूर्वक परस्थान के आचरण को छोड़कर स्वस्थान के कर्तव्यों पर स्थित हो जाना ही प्रतिक्रमण (पुनः स्वस्थान या स्वधर्म की ओर लौट आना) है।[1] इस प्रकार जैन नैतिकता का स्पष्ट निर्देश है कि साधक को स्वस्थान के कर्तव्यों का ही आचरण करना चाहिए। बृहत्कल्प भाष्यपीठिका में कहा गया है कि स्वस्थान में स्वस्थान के कर्तव्य का आचरण ही श्रेयस्कर और सबल है। इसके विपरीत स्वस्थान में परस्थान के कर्तव्य का आचरण अश्रेयस्कर एवं निष्फल है।[2] जैन आचार-दर्शन यही कहता है कि साधक को अपने बलाबल का निश्चय कर स्वस्थान चुनना चाहिए और स्वस्थान के कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। जैन साधना का आदर्श यही है कि साधक प्रथम अपने देश, काल, स्वभाव और शक्ति के आधार पर स्वस्थान का निश्चय करे अर्थात् गृहस्थ धर्म या साधु धर्म या साधना के अन्य स्तरों में वह किसका परिपालन कर सकता है। स्वस्थान का निश्चय करने के बाद ही उस स्थान के निर्दिष्ट कर्तव्यों के अनुसार नैतिक आचरण करे। दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि साधक अपने बल, पराक्रम, श्रद्धा एवं आरोग्य को अच्छी प्रकार देखभाल कर तथा देश और काल का सम्यक् परिज्ञान कर तदनुरूप कर्तव्य पथ में अपने को नियोजित करे।[3] बृहत्कल्पभाष्य पीठिका के उपरोक्त श्लोक के संदर्भ में टिप्पणी करते हुए उपाध्याय अमरमुनिजी कहते हैं, प्रत्येक जीवन-क्षेत्र में स्वस्थान का बड़ा महत्त्व है, स्वस्थान में जो गुरुत्व है वह परस्थान में कहाँ। जल में मगर जितना बलशाली है, क्या उतना स्थल में भी है? नहीं।[4] यद्यपि स्वस्थान के कर्तव्य के परिपालन का सिद्धान्त जैन और गीता के आचार-दर्शन में समान रूप से स्वीकार हुआ है, लेकिन दोनों में थोड़ा अन्तर भी है—गीता और जैन-दर्शन इस बात में तो एकमत है कि व्यक्ति के स्वस्थान का निश्चय उसकी प्रकृति अर्थात् गुण और क्षमता के आधार पर करना चाहिए, लेकिन गीता इसके आधार पर व्यक्ति के सामाजिक स्थान का निर्धारण कर उस सामाजिक स्थान के कर्तव्यों के परिपालन का निर्देश करती है, जबकि जैन-धर्म यह बताता है व्यक्ति को साधना के उच्चतम से निम्न-तर विभिन्न स्तरों में किस स्थान पर रहकर उस स्थान के लिए निश्चित आचरण के नियमों का परिपालन करना चाहिए। स्वस्थान और परस्थान का विचार यह कहता है कि साधना के विभिन्न स्तरों में से किसी स्थान पर रहकर उस स्थान के निश्चित आचरण के नियमों का परिपालन करना चाहिए।

---

१. उद्धृत जैनधर्म का प्राण, पृ० १४२ २. बृहद्कल्पभाष्य पीठिका ३२३
३. दशवैकालिक ८।३५ ४. श्रीअमर भारती मार्च १९६५, पृ० ३०

तुलना—जैन विचारणा में स्वस्थान और परस्थान का विचार साधना के स्तरों की दृष्टि से किया जाता है, जबकि गीता में स्वस्थान और परस्थान या स्वधर्म और परधर्म का विचार सामाजिक कर्तव्यों की दृष्टि से किया गया है। जैन-साधना की दृष्टि प्रमुख रूप से वैयक्तिक है, जबकि गीता की दृष्टि प्रमुख रूप से सामाजिक, यद्यपि दोनों विचारधाराएँ दूसरे पक्षों की नितान्त अवहेलना भी नहीं करतीं। इस सम्बन्ध में जैन-विचारणा यह कहती है कि सामान्य गृहस्थ साधक, विशिष्ट गृहस्थ साधक-सामान्य श्रमण अथवा जिनकल्पी श्रमण के अथवा साधना-काल की सामान्य दशा के अथवा विशेष परिस्थितियों के उत्पन्न होने की दशा के आचरण के आदर्श क्या है ? या आचरण के नियम क्या हैं और गीता समाज के ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों के कर्तव्य का निर्देश करती है। गीता आश्रम-व्यवस्था को स्वीकार तो करती है, फिर भी प्रत्येक आश्रम के विशेष कर्तव्य क्या है, इसका समुचित विवेचन गीता में उपलब्ध नही होता। जैन परम्परा में आश्रम धर्म के कर्तव्यों का ही विशेष विवेचन उपलब्ध होता है। उसमे वर्ण-व्यवस्था को गुण, कर्म के आधार पर स्वीकार किया तो गया है, फिर भी ब्राह्मण के विशेष कर्तव्यों के निर्देश के अतिरिक्त अन्य वर्णो के कर्तव्यों का कोई विवेचन विस्तार से उपलब्ध नहीं होता। वस्तुतः गीता की दृष्टि प्रमुखतः प्रवृत्ति प्रधान होने से उसमें वर्ण-व्यवस्था पर जोर दिया गया है जबकि जैन एवं बौद्ध दृष्टि प्रमुखतः निवृत्तिपरक होने से उनमें निवृत्यात्मक ढंग पर आश्रम धर्मों की विवेचना ही हुई है। जन्मना वर्ण-व्यवस्था का तो जैनों और बौद्धों ने विरोध किया ही था, अतः अपनी निवृत्तिपरक दृष्टि के अनुकूल मात्र ब्राह्मण-वर्ण के कर्तव्यों का निर्देश करके संतोष माना।

यद्यपि गीता और जैन आचार-दर्शन दोनों यही कहते हैं कि साधक को अपनी अवस्था या स्वभाव को ध्यान में रखते हुए, उसी कर्तव्य-पथ का चयन करना चाहिए, जिसका परिपालन करने की क्षमता उसमें है। स्व-क्षमता या स्थिति के आधार पर साधना के निम्न स्तर का चयन भी अधिक लाभकारी है अपेक्षाकृत उस उच्च स्तरीय चयन के, जो स्व-स्वभाव, क्षमता और स्थिति का बिना विचार किये किया जाता है। समग्र जैन-आगम-साहित्य में महावीर के जीवन का एक भी ऐसा प्रसंग देखने को नहीं मिलता जब उन्होंने साधक की शक्ति एवं स्वेच्छा के विपरीत उसे साधना के उच्चतम स्तरों में प्रविष्ट होने के लिए कहा हो। महावीर प्रत्येक साधक से चाहे वह साधना के उच्चस्तरों (श्रमण धर्म की साधना) मे प्रविष्ट होने का प्रस्ताव लेकर उनके सम्मुख उपस्थित हुआ हो या साधना के निम्न स्तर (गृहस्थ धर्म की साधना) में प्रविष्ट होने का प्रस्ताव लेकर उपस्थित हुआ हो, यही कहते हैं—हे देवानुप्रिय ! तुम्हें जैसा सुख हो वैसा करो, परन्तु प्रमाद मत करो।[1] वे साधना में इस बात पर जोर

---

१. उपासकदशांगसूत्र, १।१२

नहीं देते हैं कि तुम साधना में विकास के किस बिन्दु पर स्थित हो रहे हो, साधना के राज मार्ग पर किस स्थान पर खड़े हो, वरन् इस बात पर जोर देते हैं कि साधना के क्षेत्र में जिस स्थान पर तुम खड़े हो उस स्थान के कर्तव्यों के परिपालन में कितने सतर्क, निष्ठावान् या जागरूक हो। जैन-विचारधारा यह मानती है कि नैतिकता के क्षेत्र में यह बात प्राथमिक महत्त्व की नहीं है कि साधक कितनी कठोर साधना कर रहा है, वरन् प्राथमिक महत्त्व इस बात का है कि वह जो कुछ कर रहा है उसमें कितनी सच्चाई और निष्ठा है। यदि एक साधु जो साधना की उच्चतम भूमिका में स्थित होते हुए भी अपने कर्तव्यों के प्रति सतर्क नहीं है, निष्ठावान् नहीं है, ईमानदार नहीं है, तो वह उस गृहस्थ साधक की अपेक्षा, जो साधना की निम्न भूमिका में स्थित होते हुए भी अपने स्थान के कर्तव्यों के प्रति निष्ठावान् है, जागरूक है और ईमानदार है, नीचा ही है। नैतिक श्रेष्ठता इस बात पर निर्भर नहीं करती कि नैतिक-सोपान में कौन कहाँ पर खड़ा है, वरन् इस बात पर निर्भर करती है कि वह स्वस्थान के कर्तव्यों के प्रति कितना निष्ठावान् है। आचारांगसूत्र में स्पष्ट कहा है कि साधक जिस भावना या श्रद्धा से साधना पथ पर अभिनिष्क्रमण करे उसका प्रामाणिकतापूर्वक पालन करे।[१]

गीता इसी बात को अत्यन्त संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत करती है कि स्व-क्षमता एवं स्व-स्वभाव के प्रतिकूल ऐसे सुआचरित* प्रतीत होनेवाले उस परधर्म से, स्व-स्वभाव के अनुकूल निम्नस्तरीय होते हुए भी स्वधर्म श्रेष्ठ है। परधर्म अर्थात् अपने स्वस्वभाव एवं क्षमताओं के प्रतिकूल आचरण सदैव ही भयप्रद होता है और इसलिए स्वधर्म का परिपालन करते हुए मृत्यु का वरण कर लेना भी कल्याणकारी है।[२]

स्वधर्म का आध्यात्मिक अर्थ—गीताकार निष्कर्ष रूप में यह कहता है कि हे पार्थ, तू सब धर्मों का परित्याग कर मेरी शरण में आ, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा[3]

१. आचारांग, १।१।१।३।२०　　२. गीता, ३।३५　　३. वही, १८।६६

* **टिप्पणी**—प्रस्तुत श्लोक में 'परधर्मात्स्वनुष्ठितात्' का सामान्य अर्थ सुसमाचरित परधर्म से लगाया जाता है, लेकिन परधर्म वस्तुतः सुअनुष्ठित या सुसमाचरित होता ही नहीं है, क्योंकि जो स्वप्रकृति से निकलता है वही सुआचरित हो सकता है। यहाँ सुआचरित कहने का तात्पर्य यही है कि जो बाहर से देखने पर अच्छी तरह आचरित होता दिखाई देता है, यद्यपि मूलतः वैसा नहीं है। हृदय में वासनाओं के प्रबल आवेग के होने पर भी ढोंगी साधु साधु-जीवन की बाह्य क्रियाओं का ठीक रूप से आचरण करता है, कभी-कभी तो वह अच्छे साधु की अपेक्षा भी दिखावे के रूप में उनका अधिक अच्छे ढंग से पालन करता है, लेकिन उसका वह आचरण मात्र बाह्य दिखावा होता है उसमें सार नहीं होता। उसी प्रकार सुसमाचरित पर-धर्म में सुआचरण मात्र दिखावा या ढोंग होता है। सुआचरित या सुअनुष्ठित का यहाँ मात्र यही अर्थ है।

तो हमारे सामने एक समस्या पुनः उपस्थित होती है कि सब धर्मों के परित्याग की धारणा का स्वधर्म के परिपालन की धारणा से कैसे मेल बैठाया जाय ? यदि विचार पूर्वक देखें तो यहाँ गीताकार की दृष्टि में जिन समस्त धर्मों का परित्याग इष्ट है, वे विधि-निषेध रूप सामाजिक कर्तव्य तथा बाह्याचरण रूप धर्माधर्म के नियम हैं। वस्तुतः कर्तव्य के क्षेत्र में कभी-कभी ऐसा अवसर उपस्थित हो जाता है कि जहाँ धर्म-धर्म का निर्णय या स्वधर्म और परधर्म का निर्णय करने में मनुष्य अपने को असमर्थ पाता है। प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि व्यक्ति अपने स्वधर्म या परधर्म का निश्चय नहीं कर पाता तो वह क्या करे ? गीताकार स्पष्ट रूप से कहता है कि ऐसी अनिश्चय की अवस्था में धर्म-अधर्म के विचार से ऊपर उठकर अपने-आपको भगवान् के सम्मुख नम्र और निश्छल रूप में प्रस्तुत कर देना चाहिए और उसकी इच्छा का यन्त्र बनकर या मात्र निमित्त बनकर आचरण करना चाहिए। यहाँ गीता स्पष्ट ही आत्म-समर्पण पर जोर देती है। लेकिन जैन-दृष्टि जो किसी ऐसे कृपा करने वाले संसार के नियन्ता ईश्वर पर विश्वास नहीं करती, इस कर्तव्याकर्तव्य या स्वधर्म और परधर्म के अनिश्चय की अवस्था में व्यक्ति को यही सुझाव देती है कि उसे राग-द्वेष के भावों से दूर होकर उपस्थित कर्तव्य का आचरण करना चाहिए। वस्तुतः इस श्लोक के माध्यम से गीताकार सच्चे स्वधर्म के ग्रहण की बात कहता है, परमात्मा के प्रति सच्चा समर्पण परधर्म का त्याग और स्वधर्म का ग्रहण ही है, क्योंकि हमारा वास्तविक स्वरूप राग द्वेष से रहित अवस्था है और उसे ग्रहण करना सच्चे आध्यात्मिक स्वधर्म का ग्रहण है।

वस्तुतः स्वधर्म और परधर्म का यह व्यावहारिक कर्तव्य-पथ नैतिक साधना की इतिश्री नहीं है, व्यक्ति को इससे ऊपर उठना होता है। विधि-निषेध का कर्तव्य मार्ग नैतिक साधना का मात्र बाह्य शरीर है, उसकी आत्मा नहीं। विधि-निषेध के इस व्यवहार-मार्ग में कर्तव्यों का संघर्ष सम्भाव्य है जो व्यक्ति को कर्तव्य-विमूढ़ता में डाल देता है। अतः गीताकार ने सम्पूर्ण विवेचन के पश्चात् यही शिक्षा दी कि मनुष्य अहं के रिक्तिकरण के द्वारा अपने को भगवान् के सम्मुख समर्पित कर दे और इस प्रकार सभी धर्माधर्मों के व्यवहार-मार्ग से ऊपर उठकर उस क्षेत्र में अवस्थित हो जाये, जहाँ कर्तव्यों के मध्य संघर्ष की समस्या ही नहीं रहे। जैन-विचारकों ने भी कर्तव्यों के संघर्ष की इस समस्या से एवं कर्तव्य के निश्चय कर पाने में उत्पन्न कठिनाई से बचने के लिए स्वधर्म और परधर्म की एक आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की, जिसमें व्यक्ति का कर्तव्य है स्वरूप में अवस्थित होना। उनके अनुसार प्रत्येक तत्त्व के अपने-अपने स्वाभाविक गुण-धर्म हैं। स्वाभाविक गुण-धर्म से तात्पर्य उन गुण-धर्मों से है जो बिना किसी दूसरे तत्त्व की अपेक्षा के ही उस तत्त्व में रहते हैं अर्थात् परतत्त्व से निरपेक्ष रूप में रहनेवाले स्वाभाविक गुण-धर्म स्वधर्म है। इसके विपरीत वे गुण-धर्म, जो दूसरे तत्त्व की अपेक्षा

रखते हैं या उसके कारण उत्पन्न होते हैं, वैभाविक गुण-धर्म हैं, इसलिए परधर्म हैं। एकीभाव से अपने गुण-पर्यायों में परिणमन करना ही स्वसमय है, स्वधर्म है। जैन-दर्शन के अनुसार वस्तु का निज स्वभाव ही उसका स्वधर्म है, वैभाविक गुण-धर्म स्वधर्म नहीं है; क्योंकि वैभाविक गुणधर्म परापेक्षी हैं, पर के कारण उत्पन्न होते हैं, अतः निरपेक्ष नहीं हैं। आसक्ति या राग चैतन्य का स्वधर्म नहीं है। क्योंकि आसक्ति या राग निज से भिन्न परतत्त्व की भी अपेक्षा करता है। बिना किसी द्वैत के आसक्ति सम्भव ही नहीं। जीव या आत्मा के लिए अज्ञान परधर्म है, क्योंकि आत्मा तो ज्ञानमय है। आसक्ति वैभाविक धर्म या परधर्म है, क्योंकि परापेक्षी है। जैनाचार दर्शन के अनुसार विशुद्ध चैतन्य तत्त्व के लिए राग, द्वेष, मोह, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि परधर्म है, जबकि ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि स्वधर्म है। जैनधर्म के अनुसार गीता के 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' का सच्चा अर्थ यह है कि ज्ञान-दर्शन रूप आत्मिक स्वगुणों में स्थित रहकर मरण भी वरेण्य है। स्वाभाविक स्वगुणों का परित्याग एवं राग-द्वेष मोहादि से युक्त वैभाविक दशा (परधर्म) का ग्रहण आत्मा के लिए सदैव भय-प्रद है, क्योंकि वह उसके पतन का या बंधन का मार्ग है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वधर्म और परधर्म की विवेचना अत्यन्त मार्मिक रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—'जो जीव स्वकीय गुण पर्याय रूप सम्यक्ज्ञान, दर्शन और चारित्र में रमण कर रहा है, उसे ही परमार्थ-दृष्टि से स्व-समय या स्वधर्म में स्थित जानो और जो जीव पुद्गल या कर्म-प्रदेशों में स्थित है अर्थात् पर-पदार्थों से प्रभावित होकर उन पर राग-द्वेष आदि भाव करके, उन पर तत्त्वों के आश्रय से स्व-स्वरूप को विकारी बना रहा है, उसे पर-समय या परधर्म में स्थित जानो। राग, द्वेष और मोह का परिणमन पर के कारण ही होता है, अतः वह पर-स्वभाव या पर-धर्म ही है। आचार्य आगे कहते हैं कि स्वस्वरूप या स्वधर्म से च्युत होकर पर-धर्म, पर-स्वभाव या पर-समय में स्थित होना बन्धन है और यह दूसरे के साथ बन्धन में होने की अवस्था विसंवादिनी अथवा निन्दा की पात्र है। आत्मा तो स्वभाव या स्वधर्म में स्थित होकर अपने एकत्व की अवस्था में ही शोभा पाता है।'[1]

गीता का दृष्टिकोण—यद्यपि गीता के श्लोकों में स्वधर्म और परधर्म के आध्यात्मिक अर्थ की इस विवेचना का अभाव है, लेकिन आचार्य शंकर ने गीता भाष्य में आचार्य कुन्दकुन्द से मिलती हुई स्वधर्म और परधर्म की व्याख्या प्रस्तुत की है। शंकर कहते हैं कि जब मनुष्य की प्रकृति राग-द्वेष का अनुसरण कर उसे अपने काम में नियोजित करती है, तब स्वधर्म का परित्याग और परधर्म का अनुष्ठान होता है अर्थात् आचार्य शंकर के अनुसार भी राग-द्वेष के वशीभूत होना ही परधर्म है और राग-द्वेष से विमुक्त होना ही स्वधर्म है।[2]

---

१. समयसार, २७३ २. गीता (शां०), ३।३४

ब्रेडले का स्वस्थान और उसके कर्तव्य का सिद्धान्त तथा स्वधर्म—भारतीय परम्परा के स्वधर्म के सिद्धान्त के समान ही पाश्चात्य परम्परा में ब्रेडले ने 'स्वस्थान और उसके कर्तव्य' का सिद्धान्त स्थापित किया। ब्रेडले का कहना है कि हम उस समय अपने को प्राप्त करते हैं जब हम अपने स्थान और कर्तव्यों को एक समाजरूपी शरीर के अंग के रूप में प्राप्तकर लेते हैं।[1] ब्रेडले ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक एथिकल स्टडीज में इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है।[2] यहाँ तो हम केवल उसके सिद्धान्त का सारांश ही प्रस्तुत कर रहे हैं। ब्रेडले के उपर्युक्त कथन का अर्थ यह है कि हमें अपनी योग्यताओं और क्षमताओं को परख कर सामाजिक जीवन के क्षेत्र में अपने कर्तव्य का निर्धारण कर लेना चाहिए। वस्तुतः हमारा कर्तव्य वही हो सकता है जो हमारी प्रकृति हो। अपनी प्रकृति के अनुरूप सामाजिक जीवन में अपने स्थान का निर्धारण एवं उसके कर्तव्यों का चयन और उनका पालन ही ब्रेडले के दृष्टिकोण का आशय है, यद्यपि यह ध्यान में रखना चाहिये कि स्वस्थान के अनुरूप कर्तव्य-पालन नैतिकता की अन्तिम परिणति नहीं है। हमें उससे भी ऊपर उठना होगा।

१. एथिकल स्टडीज, पृ० १६३ २. एथिकल स्टडीज, अध्याय ५

४ सामाजिक नैतिकता के केन्द्रीय तत्त्व : अहिंसा, अनाग्रह और अपरिग्रह

वैयक्तिक एवं सामाजिक समता के विचलन के दो कारण हैं—एक मोह और दूसरा क्षोभ। मोह (आसक्ति) विचलन का एक आन्तरिक कारण है जो राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ (तृष्णा) आदि के रूप में प्रकट होता है। हिंसा, शोषण, तिरस्कार या अन्याय—ये क्षोभ के कारण हैं जो अन्तर मानस को पीड़ित करते हैं। यद्यपि मोह और क्षोभ ऐसे तत्त्व नहीं हैं जो एक-दूसरे से अलग और अप्रभावित हों, तथापि मोह के कारण आन्तरिक और उसका प्रकटन बाह्य है, जबकि क्षोभ के कारण बाह्य है और उसका प्रकटन आन्तरिक है। मोह वैयक्तिक बुराई है, जो समाज-जीवन को दूषित करती है, जबकि 'क्षोभ' सामाजिक बुराई है, जो वैयक्तिक जीवन को दूषित करती है। मोह का केन्द्रीय तत्त्व आसक्ति (राग या तृष्णा) है, जबकि क्षोभ का केन्द्रीय तत्त्व हिंसा है।

इस प्रकार जैन-आचार में सम्यक् चारित्र की दृष्टि से अहिंसा और अनासक्ति ये दो केन्द्रीय सिद्धान्त है। एक बाह्य जगत् या सामाजिक जीवन में समत्व का संस्थापन करता है तो दूसरा चैतसिक या आन्तरिक समत्व को बनाये रखता है। वैचारिक क्षेत्र में अहिंसा और अनासक्ति मिलकर अनाग्रह या अनेकान्तवाद को जन्म देते हैं। आग्रह वैचारिक आसक्ति है और एकान्त वैचारिक हिंसा। अनासक्ति का सिद्धान्त ही अहिंसा से समन्वित हो सामाजिक जीवन में अपरिग्रह का आदेश प्रस्तुत करता है। संग्रह वैयक्तिक जीवन के सन्दर्भ में आसक्ति और सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में हिंसा है। इस प्रकार जैन-दर्शन सामाजिक नैतिकता के तीन केन्द्रीय सिद्धान्त प्रस्तुत करता है:—
१. अहिंसा, २. अनाग्रह (वैचारिक सहिष्णुता) और ३. अपरिग्रह (असंग्रह)।

अब एक दूसरी दृष्टि से विचार करें। मनुष्य के पास मन, वाणी और शरीर ऐसे तीन साधन हैं, जिनके माध्यम से वह सदाचरण या दुराचरण में प्रवृत्त होता है। शरीर का दुराचरण हिंसा और सदाचरण अहिंसा कहा जाता है। वाणी का दुराचरण आग्रह (वैचारिक असहिष्णुता) और सदाचरण अनाग्रह (वैचारिक सहिष्णुता) है। जबकि मन का दुराचरण आसक्ति (ममत्व) और सदाचरण अनासक्ति (अपरिग्रह) है। वैसे यदि अहिंसा को ही केन्द्रीय तत्त्व माना जाय तो अनेकान्त को वैचारिक अहिंसा और अनासक्ति को मानसिक अहिंसा (स्वदया) कहा जा सकता है। साथ ही अनासक्ति से

प्रतिफलित होने वाला अपरिग्रह का सिद्धान्त सामाजिक एवं आर्थिक अहिंसा कहा जा सकता है।

यदि साधना के तीन अंग—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के व्यावहारिक पक्षों की दृष्टि से विचार किया जाय तो अनासक्ति सम्यग्दर्शन का, अनेकान्त (अनाग्रह) सम्यग्ज्ञान का और अहिंसा सम्यक् चारित्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। दर्शन का सम्बन्ध वृत्ति से है, ज्ञान का सम्बन्ध विचार से है और चारित्र का कर्म से है। अतः वृत्ति में अनासक्ति, विचार में अनाग्रह और आचरण में अहिंसा यही जैन आचार दर्शन के समन्वय का व्यावहारिक स्वरूप है जिन्हें हम सामाजिक के सन्दर्भ में क्रमशः अपरिग्रह, अनेकान्त (अनाग्रह) और अहिंसा के नाम से जानते हैं। अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह जब सामाजिक जीवन से सम्बन्धित होते हैं, तब वे सम्यक् आचरण के ही अंग कहे जाते हैं। दूसरे, जब आचरण से हमारा तात्पर्य कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकार के कर्मों से हो, तो अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह का समावेश सम्यक् आचरण में हो जाता है। सम्यक् आचरण एक प्रकार से जीवन शुद्धि का प्रयास है, अतः मानसिक कर्मों की शुद्धि के लिए अनासक्ति (अपरिग्रह), वाचिक कर्मों की शुद्धि के लिए अनेकान्त (अनाग्रह) और कायिक कर्मों की शुद्धि के लिए अहिंसा के पालन का निर्देश किया गया है। इस प्रकार जैन जीवन-दर्शन का सार इन्हीं तीन सिद्धान्तों में निहित है। जैनधर्म की परिभाषा करने वाला यह श्लोक सर्वाधिक प्रचलित ही है—

स्याद्वादो वर्ततेऽस्मिन् पक्षपातो न विद्यते।
नास्त्यन्यं पीड़नं किंचित् जैनधर्मः स उच्यते ॥

सच्चा जैन वही है जो पक्षपात (ममत्व) से रहित है, अनाग्रही और अहिंसक है। यहाँ हमें इस सम्बन्ध में भी स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि जिस प्रकार आत्मा या चेतना के तीन पक्ष ज्ञान, दर्शन और चारित्र आध्यात्मिक पूर्णता की दिशा में एक दूसरे से अलग-अलग नहीं रहते हैं, उसी प्रकार अहिंसा, अनाग्रह (अनेकान्त) और अपरिग्रह भी सामाजिक समता की स्थापना के प्रयास के रूप में एक दूसरे से अलग नहीं रहते। जैसे-जैसे वे पूर्णता की ओर बढ़ते हैं, वैसे-वैसे एक दूसरे के साथ समन्वित होते जाते हैं।

अहिंसा

जैनधर्म में अहिंसा का स्थान

अहिंसा जैन आचार-दर्शन का प्राण है। अहिंसा वह धुरी है जिस पर समग्र जैन आचार-विधि घूमती है। जैनागमों में अहिंसा को भगवती कहा गया है। प्रश्नव्याकरण-सूत्र में कहा गया है कि भयभीतों को जैसे शरण, पक्षियों को जैसे गगन, तृषितों को जैसे

जल, भूखों को जैसे भोजन, समुद्र के मध्य जैसे जहाज, रोगियों को जैसे औषध और वन में जैसे सार्थवाह का साथ आधारभूत है, वैसे ही अहिंसा प्राणियों के लिए आधारभूत है। अहिंसा चर एवं अचर सभी प्राणियों का कल्याण करने वाली है।[१] वह शाश्वत धर्म है, जिसका उपदेश तीर्थंकर करते हैं। आचारांगसूत्र में कहा गया है—भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी अर्हत् यह उपदेश करते हैं कि किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को किसी प्रकार का परिताप, उद्वेग या दुःख नहीं देना चाहिए, न किसी का हनन करना चाहिए। यही शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है। समस्त लोक की पीड़ा को जानकर अर्हतों ने इसका प्रतिपादन किया है।[२] सूत्रकृतांगसूत्र के अनुसार ज्ञानी होने का सार यह है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। अहिंसा ही समग्र धर्म का सार है, इसे सदैव स्मरण रखना चाहिए।[3] दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि सभी प्राणियों के हित साधन में अहिंसा के सर्वश्रेष्ठ होने से महावीर ने इसको प्रथम स्थान दिया है।[४] अहिंसा के समान दूसरा धर्म नहीं है।[५]

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि के अनुसार तो जैन आचार-विधि का सम्पूर्ण क्षेत्र अहिंसा से व्याप्त है, उसके बाहर उसमें कुछ है ही नहीं। सभी नैतिक नियम और मर्यादाएँ इसके अन्तर्गत हैं; आचार-नियमों के दूसरे रूप जैसे असत्य भाषण नहीं करना, चोरी नहीं करना आदि तो जनसाधारण को सुलभ रूपसे समझाने के लिये भिन्न-भिन्न नामों से कहे जाते हैं, वस्तुतः वे सभी अहिंसा के ही विभिन्न पक्ष हैं।[६] जैन-दर्शन में अहिंसा वह आधार वाक्य है जिसमें आचार के सभी नियम निर्गमित होते हैं। भगवती आराधना में कहा गया है—अहिंसा सब आश्रमों का हृदय है, सब शास्त्रों का गर्भ (उत्पत्ति स्थान) है।[७]

बौद्धधर्म में अहिंसा का स्थान—बौद्ध-दर्शन के दश शीलों में अहिंसा का स्थान प्रथम है। चतुःशतक मे कहा है कि तथागत ने संक्षेप में केवल 'अहिंसा' इन अक्षरों में धर्म का वर्णन किया है।[८] बुद्ध ने हिंसा को अनार्य कर्म कहा है। वे कहते हैं, जो प्राणियों की हिंसा करता है, वह आर्य नहीं होता, सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा का पालन करने वाला ही आर्य कहा जाता है।[९]

बुद्ध हिंसा एवं युद्ध के नीतिशास्त्र के घोर विरोधी हैं। धम्मपद में कहा गया है—विजय से वैर उत्पन्न होता है। पराजित दुःखी होता है। जो जय-पराजय को छोड़

१. प्रश्नव्याकरणसूत्र, २।१।२१।२२
२. आचारांग, १।४।१।१२७
३. सूत्रकृतांग, १।४।१०
४. दशवैकालिक, ६।९
५. भक्तपरिज्ञा, ९१
६. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ४२
७. भगवती-आराधना, ७९०
८. चतुःशतक, २९८
९. धम्मपद, २७०

चुका है, उसे ही सुख है, उसे ही शान्ति है।[1]

अंगुत्तरनिकाय में यह बात और अधिक स्पष्ट कर दी गयी है। हिंसक व्यक्ति जगत् में नारकीय जीवन का और अहिंसक व्यक्ति स्वर्गीय जीवन का सृजन करता है। वे कहते हैं—"भिक्षुओं, तीन धर्मों से युक्त प्राणी ऐसा होता है जैसे लाकर नरक में डाल दिया गया हो। कौन से तीन ? स्वयं प्राणी हिंसा करता है, दूसरे प्राणी को हिंसा की ओर घसीटता है और प्राणी-हिंसा का समर्थन करता है। भिक्षुओं, तीन धर्मों से युक्त प्राणी ऐसा ही होता है, जैसे लाकर नरक में डाल दिया गया हो।"

"भिक्षुओं, तीन धर्मों से युक्त प्राणी ऐसा होता है, जैसे लाकर स्वर्ग में डाल दिया गया हो। कौन से तीन ?"

"स्वयं प्राणी हिंसा से विरत रहता है, दूसरे को प्राणी-हिंसा की ओर नहीं घसीटता और प्राणी-हिंसा का समर्थन नहीं करता।[2]" बौद्धधर्म के महायान सम्प्रदाय में करुणा और मैत्री की भावना का जो चरम उत्कर्ष देखा जाता है, उसकी पृष्ठभूमि में यही अहिंसा का सिद्धान्त रहा है।

हिन्दूधर्म में अहिंसा का स्थान—गीता में अहिंसा का महत्त्व स्वीकृत करते हुए उसे भगवान् का ही भाव कहा गया है। उसे दैवी सम्पदा एवं सात्विक तप भी कहा है।[3] महाभारत में तो जैन विचारणा के समान ही अहिंसा में सभी धर्मों को अन्तर्भूत मान लिया गया है।[4] यही नहीं, उसमें धर्म के उपदेश का उद्देश्य भी प्राणियों को हिंसा से विरत करना है। अहिंसा ही धर्म का सार है। महाभारतकार का कथन है कि—'प्राणियों की हिंसा न हो, इसलिए धर्म का उपदेश दिया गया है, अतः जो अहिंसा से युक्त है, वही धर्म है।'[5]

लेकिन यह प्रश्न हो सकता है कि गीता में बार-बार अर्जुन को युद्ध करने के लिए कहा गया, उसका युद्ध से उपरत होने का कार्य निन्दनीय तथा कायरतापूर्ण माना गया है, फिर गीता को अहिंसा की समर्थक कैसे माना जाए ? इस सम्बन्ध में गीता के व्याख्याकारों की दृष्टिकोणों को समझ लेना आवश्यक है। आद्य टीकाकार आचार्य शंकर 'युध्यस्व (युद्ध कर)' शब्द की टीका में लिखते हैं—यहाँ (उपर्युक्त कथन से) युद्ध की कर्तव्यता का विधान नहीं है।[6] इतना ही नहीं, आचार्य 'आत्मोपम्येन सर्वत्र' के आधार पर गीता में अहिंसा के सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं—'जैसे मुझे सुख प्रिय है वैसे ही सभी प्राणियों को सुख अनुकूल है और जैसे दुःख मुझे अप्रिय या प्रतिकूल

---

१. धम्मपद, २०१

२. अंगुत्तरनिकाय, ३।१५३ ३. गीता १०।५-७, १६।२, १७।१४

४. महाभारत, शान्ति पर्व, २४५।१९

५. वही, १०९।१२ ६. गीता (शांकर भाष्य), २।१८

है, वैसे ही सब प्राणियों को अप्रिय, प्रतिकूल है, इस प्रकार जो सब प्राणियों में अपने समान ही सुख और दुःखको तुल्य भाव से अनुकूल और प्रतिकूल देखता है, किसी के भी प्रतिकूल आचरण नहीं करता, वही अहिंसक है। इस प्रकार का अहिंसक पुरुष पूर्ण ज्ञान में स्थित है, वह सब योगियों में परम उत्कृष्ट माना जाता है।"[1]

महात्मा गांधी भी गीता को अहिंसा का प्रतिपादक ग्रन्थ मानते हैं। उनका कथन है—'गीता की मुख्य शिक्षा हिंसा नहीं, अहिंसा है। हिंसा बिना क्रोध, आसक्ति एवं घृणा के नहीं होती और गीता हमें सत्व, रजस् और तमस् गुणों के रूप में घृणा, क्रोध आदि अवस्थाओं से ऊपर उठने को कहती है। (फिर वह हिंसा की समर्थक कैसे हो सकती है)।[2] डा० राधाकृष्णन् भी गीता को अहिंसा का प्रतिपादक ग्रन्थ मानते हैं। वे लिखते हैं—'कृष्ण अर्जुन को युद्ध करने का परामर्श देता है, तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह युद्ध की वैधता का समर्थन कर रहा है। युद्ध तो एक ऐसा अवसर आ पड़ा है; जिसका उपयोग गुरु उस भावना की ओर संकेत करने के लिए करता है, जिस भावना के साथ सब कार्य, जिनमें युद्ध भी सम्मिलित है, किये जाने चाहिए। यह हिंसा या अहिंसा का प्रश्न नहीं है, अपितु अपने उन मित्रों के विरुद्ध हिंसा के प्रयोग का प्रश्न है, जो अब शत्रु बन गये हैं। युद्ध के प्रति उसकी हिचक आध्यात्मिक विकास या सत्व-गुण की प्रधानता का परिणाम नहीं है, अपितु अज्ञान और वासना की उपज है। अर्जुन इस बात को स्वीकार करता है कि वह दुर्बलता और अज्ञान के वशीभूत हो गया है। गीता हमारे सम्मुख जो आदर्श उपस्थित करती है, वह अहिंसा का है, और यह बात सातवें अध्याय में मन, वचन और कर्म की पूर्ण दशा के और बारहवें अध्याय में भक्त की मनोदशा के वर्णन से स्पष्ट हो जाती है। कृष्ण अर्जुन को आवेश या दुर्भावना के बिना, राग या द्वेष के बिना युद्ध करने को कहता है और यदि हम अपने मन को ऐसी स्थिति में ले जा सकें, तो हिंसा असम्भव हो जाती है।[3]

इस प्रकार स्पष्ट है गीता हिंसा की समर्थक नहीं है। मात्र अन्याय के प्रतिकार के लिए अद्वेषबुद्धिपूर्वक विवशता में हिंसा करने का जो समर्थन गीता में दिखाई पड़ता है, उससे यह नहीं कहा जा सकता कि गीता हिंसा की समर्थक है। अपवाद के रूप में हिंसा का समर्थन नियम नहीं बन जाता। ऐसा समर्थन तो हमें जैन और बौद्ध आगमों में भी उपलब्ध हो जाता है।

अहिंसा का आधार—अहिंसा की भावना के मूलाधार के सम्बन्ध में विचारकों में कुछ भ्रान्त धारणाओं को प्रश्रय मिला है, अतः उस पर सम्यक्रूपेण विचार कर लेना आवश्यक है। मेकेन्जी ने अपने ग्रन्थ हिन्दूएथिक्स[4] में इस भ्रान्त विचारणा को प्रस्तुत

१. गीता, ६।३२ २. दि भगवद्गीता एण्ड चेंजिंग वर्ल्ड, पृ० १२२

३. भगवद्गीता (रा०), पृ० ७४-७५ ४. हिन्दू एथिक्स, मेकेन्जी

किया है कि हिंसा की अवधारणा का विकास भय के आधार पर हुआ है। वे लिखते हैं—'असभ्य मनुष्य जीव के विभिन्न रूपों को भय की दृष्टि से देखते थे और भय की यह धारणा ही अहिंसा का मूल है।' लेकिन कोई भी प्रबुद्ध विचारक मेकेन्ज़ी की इस धारणा से सहमत नहीं होगा।

आचारांग में अहिंसा के सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थापित करने का प्रयास किया गया है। उसमें अहिंसा को आर्हत प्रवचन का सार और शुद्ध एवं शाश्वत धर्म बताया गया है। सर्वप्रथम हमें यह विचार करना है कि अहिंसा को ही धर्म क्यों माना जाय? सूत्रकार इसका बड़ा मनोवैज्ञानिक उत्तर प्रस्तुत करता है; वह कहता है कि सभी प्राणियों में जिजीविषा प्रधान है, पुनः सभी को सुख अनुकूल और दुःख प्रतिकूल है।[1] अहिंसा का अधिष्ठान यही मनोवैज्ञानिक सत्य है। अस्तित्व और सुख की चाह प्राणीय स्वभाव है, जैन विचारकों ने इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य के आधार पर अहिंसा को स्थापित किया है। अहिंसा का आधार 'भय' मानना गलत है क्योंकि भय के सिद्धान्त को यदि अहिंसा का आधार बनाया जायेगा तो व्यक्ति केवल सबल की हिंसा से विरत होगा, निर्बल की हिंसा से नहीं। जिससे भय होगा उसी के प्रति अहिंसक बुद्धि बनेगी। जबकि जैनधर्म तो सभी प्राणियों के प्रति यहाँ तक कि वनस्पति, जल और पृथ्वीकायिक जीवों के प्रति भी अहिंसक होने की बात करता है, अतः अहिंसा को भय के आधार पर नहीं अपितु जिजीविषा और सुखाकांक्षा के मनोवैज्ञानिक सत्यों के आधार पर अधिष्ठित किया जा सकता है। पुनः जैनधर्म ने इन मनोवैज्ञानिक सत्यों के साथ ही अहिंसा को तुल्यता बोध का बौद्धिक आधार भी दिया गया है। यहाँ कहा गया है कि जो अपनी पीड़ा को जान पाता है वही तुल्यता बोध के आधार पर दूसरों की पीड़ा को भी समझ सकता है।[2] प्राणीय पीड़ा की तुल्यता के बोध के आधार पर होने वाला आत्मसंवेदन ही अहिंसा की नींव है।

वस्तुतः अहिंसा का मूलाधार जीवन के प्रति सम्मान, समत्वभावना, एवं अद्वैतभावना है। समत्वभाव से सहानुभूति तथा अद्वैतभाव से आत्मीयता उत्पन्न होती है और इन्हीं से अहिंसा का विकास होता है। अहिंसा जीवन के प्रति भय से नहीं, जीवन के प्रति सम्मान से विकसित होती है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं, कोई मरना नहीं चाहता अतः निर्ग्रन्थ प्राणवध (हिंसा) का निषेध करते हैं।[3] वस्तुतः प्राणियों के जीवित रहने का नैतिक अधिकार ही अहिंसा के कर्तव्य को जन्म देता है। जीवन के अधिकार का सम्मान ही अहिंसा है। उत्तराध्ययनसूत्र में समत्व के आधार पर अहिंसा के सिद्धान्त की स्थापना करते हुए कहा गया

१. अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणई एयं तुल्लमन्नेसिं, १।१।७

२. सव्वे पाणा पिआउया सुहसाया दुःखपडिकूला, १।२।३ ३. दशवैकालिक ६।११

है कि भय और वैर से मुक्त साधक, जीवन के प्रति प्रेम रखने वाले सभी प्राणियों को सर्वत्र अपनी आत्मा के समान जान कर उनकी कभी भी हिंसा न करे।[१] यह मेकेन्जी की इस धारणा का, कि अहिंसा भय पर अधिष्ठित है, सचोट उत्तर है। आचारांगसूत्र में तो आत्मीयता की भावना के आधार पर ही अहिंसा-सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना की गयी है। उसमें लिखा है—जो लोक (अन्य जीव समूह) का अपलाप करता है वह स्वयं अपनी आत्मा का भी अपलाप करता है।[२] आगे पूर्णआत्मीयता की भावना को परि-पुष्ट करते हुए महावीर कहते हैं—जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है। जिसे तू शासित करना चाहता है वह तू ही है। जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।[३] भक्तपरिज्ञा में भी लिखा है—किसी भी अन्य प्राणी की हत्या वस्तुतः अपनी ही हत्या है और अन्य जीवों की दया अपनी ही दया है।[४] इस प्रकार जैनधर्म में अहिंसा का आधार आत्मवत् दृष्टि ही है।

बौद्धधर्म में अहिंसा का आधार—भगवान् बुद्ध ने भी अहिंसा के आधार के रूप में इसी 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना को ग्रहण किया है। सुत्तनिपात में बुद्ध कहते हैं—'जैसा मैं हूँ वैसे ही ये सब प्राणी हैं, और जैसे ये सब प्राणी हैं वैसा ही मैं हूँ—इस प्रकार अपने समान सब प्राणियों को समझकर न स्वयं किसी का वध करे और न दूसरों से कराए।'[५]

गीता में अहिंसा के आधार—गीताकार भी अहिंसा के सिद्धांत के आधार के रूप में 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की उदात्त भावना को लेकर चलता है। यदि हम गीता को अद्वैत-वाद की समर्थक मानें तो अहिंसा के आधार की दृष्टि से जैन दर्शन और अद्वैतवाद में यह अन्तर है कि जहाँ जैन परम्परा में सभी आत्माओं को **तात्त्विक समानता** के आधार पर अहिंसा की प्रतिष्ठा की गई है, वहाँ अद्वैतवाद में **तात्त्विक अभेद** के आधार पर अहिंसा की स्थापना की गई है। वाद कोई भी हो, पर अहिंसा की दृष्टि से महत्त्व की बात एक ही है कि अन्य जीवों के साथ समानता, जीवन के अधिकार का सम्मान और अभेद की वास्तविक संवेदना या आत्मीयता की अनुभूति ही अहिंसा की भावना का उद्गम है।[६] जब मनुष्य में इस संवेदन-शीलता का सच्चे रूप में उदय हो जाता है, तब हिंसा का विचार एक असंभावना बन जाता है। हिंसा का संकल्प सदैव 'पर' के प्रति होता है, 'स्व' या आत्मीय के प्रति कभी नहीं। अतः आत्मवत् दृष्टि का विकास ही अहिंसा का आधार है।

१. उत्तराध्ययन, ६।७
२. आचारांग, १।३।३
३. वही, १।५।५
४. भक्तपरिज्ञा—९३
५. सुत्तनिपात, ३।३७।२७
६. दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृ० १२५

जैनागमों में अहिंसा की व्यापकता

जैन-विचारणा में अहिंसा का क्षेत्र कितना व्यापक है, इसका बोध हमें प्रश्नव्याकरणसूत्र से हो सकता है। उसमें अहिंसा के साठ पर्यायवाची नाम वर्णित हैं[1]—१. निर्वाण, २. निवृत्ति, ३. समाधि, ४. शान्ति, ५. कीर्ति, ६. कान्ति, ७. प्रेम, ८. वैराग्य, ९. श्रुतांग, १०. तृप्ति, ११. दया, १२. विमुक्ति, १३. क्षान्ति, १४. सम्यक् आराधना, १५. महती, १६. बोधि, १७. बुद्धि, १८. धृति, १९. समृद्धि, २०. ऋद्धि, २१. वृद्धि, २२. स्थिति (धारक), २३. पुष्टि (पोषक), २४. नन्द (आनन्द), २५. भद्रा, २६. विशुद्धि, २७. लब्धि, २८. विशेष दृष्टि, २९. कल्याण, ३०. मंगल, ३१. प्रमोद, ३२. विभूति, ३३. रक्षा, ३४. सिद्धावास, ३५. अनास्रव, ३६. कैवल्यस्थान, ३७. शिव, ३८. समिति, ३९. शील, ४०. संयम, ४१. शील परिग्रह, ४२. संवर, ४३. गुप्ति, ४४. व्यवसाय, ४५. उत्सव, ४६. यज्ञ, ४७. आयतन, ४८. यतन, ४९. अप्रमाद, ५०. आश्वासन, ५१. विश्वास, ५२. अभय, ५३. सर्व अमाघात (किसी को न मारना), ५४. चोक्ष (स्वच्छ), ५५. पवित्र, ५६. शुचि, ५७. पूता या पूजा, ५८. विमल, ५९. प्रभात और ६०. निर्मलतर।

इस प्रकार जैन आचार-दर्शन में अहिंसा शब्द एक व्यापक दृष्टि को लेकर उपस्थित होता है। उसके अनुसार सभी सद्गुण अहिंसा में निहित हैं और अहिंसा ही एकमात्र सद्गुण है। अहिंसा सद्गुण-समूह की सूचक है।

अहिंसा क्या है ?

हिंसा का प्रतिपक्ष अहिंसा है।[2] यह अहिंसा की एक निषेधात्मक परिभाषा है। लेकिन हिंसा का त्याग मात्र अहिंसा नहीं है। निषेधात्मक अहिंसा जीवन के समग्र पक्षों को स्पर्श नहीं करती। वह आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं कही जा सकती। निषेधात्मक अहिंसा मात्र बाह्य हिंसा नहीं करना है, यह अहिंसा का शरीर हो सकता है, अहिंसा की आत्मा नहीं। किसी को नहीं मारना यह अहिंसा के सम्बन्ध में मात्र स्थूल दृष्टि है। लेकिन यह मानना भ्रान्तिपूर्ण होगा कि जैन धर्म अहिंसा की इस स्थूल एवं बहिर्मुखी दृष्टि तक सीमित रही है। जैन-दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त अहिंसा शाब्दिक दृष्टि से चाहे नकारात्मक है, लेकिन उसकी अनुभूति नकारात्मक नहीं है। उसकी अनुभूति सदैव ही विधायक रही है। सर्वत्र आत्मभाव मूलक करुणा और मैत्री की विधायक अनुभूतियों से अहिंसा की धारा प्रवाहित हुई है। अहिंसा क्रिया नहीं, सत्ता है, वह आत्मा की एक अवस्था है। आत्मा की प्रमत्त अवस्था ही हिंसा है और अप्रमत्त अवस्था ही अहिंसा है। आचार्य भद्रबाहु ओघनिर्युक्ति में लिखते हैं कि पारमार्थिक दृष्टि से

१. प्रश्नव्याकरणसूत्र, १।२१ २. दशवैकालिक-निर्युक्ति, ६०

आत्मा ही हिंसा है और आत्मा अहिंसा है। प्रमत्त आत्मा हिंसक है और अप्रमत्त आत्मा अहिंसक है।[२] आत्मा की प्रमत्त दशा हिंसा की अवस्था है और अप्रमत्त दशा अहिंसा की अवस्था है।

द्रव्य एवं भाव अहिंसा—अहिंसा को सम्यक् रूप से समझने के लिए पहले यह जान लेना आवश्यक है कि जैन-विचारणा के अनुसार हिंसा क्या है ? जैन-विचारणा हिंसा का दो पक्षों से विचार करती है। एक हिंसा का बाह्य पक्ष है, जिसे जैन पारिभाषिक शब्दावली में द्रव्य हिंसा कहा गया है। द्रव्य हिंसा स्थूल एवं बाह्य घटना है। यह एक क्रिया है जिसे प्राणातिपात, प्राणवध, प्राणहनन आदि नामों से जाना जाता है। जैन-विचारणा आत्मा को सापेक्ष रूप में नित्य मानती है। अतः हिंसा के द्वारा जिसका हनन होता है वह आत्मा नहीं, वरन् प्राण है—प्राण जैविक शक्ति है। जैन-विचारणा में प्राण दस माने गये हैं। पाँच इन्द्रियों की शक्ति, मन, वाणी और शरीर का त्रिविध बल, श्वसन-क्रिया एवं आयुष्य ये दस प्राण हैं। इन प्राण-शक्तियों का वियोजीकरण ही द्रव्य-दृष्टि से हिंसा है।[१] यह हिंसा की यह परिभाषा उसके बाह्य पक्ष पर बल देती है। द्रव्य-हिंसा का तात्पर्य प्राण-शक्तियों का कुण्ठन, हनन तथा विलगाव करना है।

भाव-हिंसा हिंसा का विचार है, यह मानसिक अवस्था है, जो प्रमादजन्य है। आचार्य अमृतचन्द्र हिंसा के भावात्मक पक्ष पर बल देते हुए हिंसा-अहिंसा की परिभाषा करते हैं। उनका कथन है कि रागादि कषायों का अभाव अहिंसा है और उनका उत्पन्न होना ही हिंसा है। यही जैन-आगमों की विचार दृष्टि का सार है।[१] हिंसा की पूर्ण परिभाषा तत्त्वार्थसूत्र में मिलती है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार राग, द्वेष आदि प्रमादों से युक्त होकर किया जाने वाला प्राण-वध हिंसा है।[२]

हिंसा के प्रकार

जैन विचारकों ने द्रव्य और भाव इन दो रूपों के आधार पर हिंसा के चार विभाग किये हैं—१. मात्र शारीरिक हिंसा, २. मात्र वैचारिक हिंसा, ३. शारीरिक एवं वैचारिक हिंसा, और ४. शाब्दिक हिंसा। **मात्र शारीरिक हिंसा** या द्रव्य हिंसा वह है जिसमें हिंसक क्रिया तो सम्पन्न हुई हो, लेकिन हिंसक विचार का अभाव हो। उदाहरणस्वरूप, सावधानीपूर्वक चलते हुए भी दृष्टिदोष या जन्तु की सूक्ष्मता के कारण उसके नहीं दिखाई देने पर हिंसा हो जाना। **मात्र वैचारिक हिंसा** या भाव हिंसा वह है जिसमें हिंसा की क्रिया तो अनुपस्थित हो, लेकिन हिंसा का संकल्प उपस्थित हो। इसमें कर्ता हिंसा के संकल्प से युक्त होता है, लेकिन बाह्य परिस्थितिवश उसे क्रियान्वित करने में सफल नहीं हो पाता है, जैसे कैदी का न्यायाधीश की हत्या करने का विचार (जैन

१. ओघनिर्युक्ति, ७५४ २. अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ७, पृ० १२२८

परम्परा में इस सम्बन्ध में तंदुलमच्छ एवं कालसौकरिक कसाई के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं) **वैचारिक एवं शारीरिक हिंसा**—जिसमें हिंसा का विचार और हिंसा की क्रिया दोनों ही उपस्थित हो, जैसे संकल्पपूर्वक की गई हत्या। **शाब्दिक हिंसा**—जिसमें न तो हिंसा का विचार हो, न हिंसा की क्रिया। मात्र हिंसक शब्दों का उच्चारण हो, जैसे सुधार की भावना से माता पिता का बालकों पर या गुरु का शिष्य पर कृत्रिम रूप से कुपित होना।[1] नैतिकता की या बन्धन की तीव्रता की दृष्टि से हिंसा के इन चार रूपों में क्रमशः शाब्दिक हिंसा की अपेक्षा संकल्प रहित शारीरिक हिंसा, संकल्प रहित शारीरिक हिंसा की अपेक्षा मात्र वैचारिक हिंसा और मात्र वैचारिक हिंसा की अपेक्षा संकल्पयुक्त शारीरिक हिंसा अधिक निकृष्ट मानी गयी है।

हिंसा की विभिन्न स्थितियाँ—वस्तुतः हिंसककर्म की तीन अवस्थाएँ हो सकती हैं—१. हिंसा की गयी हो, २. हिंसा करनी पड़ी हो और ३. हिंसा हो गयी हो। पहली स्थिति में यदि हिंसा चेतन रूप से की गई है तो वह संकल्पयुक्त है, यदि अचेतन-रूप से की गई है तो वह प्रमादयुक्त है। हिंसक क्रिया, चाहे संकल्प से उत्पन्न हुई हो या प्रमाद के कारण हुई हो, कर्ता दोषी माना जाता है। दूसरी स्थिति में हिंसा चेतन रूप से किन्तु विवशतावश करनी पड़ती है, यह बाध्यता शारीरिक हो सकती है अथवा बाह्य परिस्थितिगत, यहाँ भी कर्ता दोषी है। वह कर्म का बन्धन भी करता है, लेकिन पश्चात्ताप या ग्लानि के द्वारा वह उससे शुद्ध हो जाता है। बाध्यता की अवस्था में की गई हिंसा के लिए कर्ता को दोषी मानने का आधार यह है कि समग्र बाध्यताएँ स्वयं के द्वारा आरोपित हैं। बाध्यता या बन्धन के लिए कर्ता स्वयं उत्तरदायी है। बाध्यताओं की स्वीकृति कायरता का प्रतीक है। बन्धन में होना और बन्धन को मानना दोनों ही कर्ता की विकृतियाँ हैं—कर्ता स्वयं दोषी है ही। नैतिक जीवन का साध्य तो इनसे ऊपर उठने में ही है। तीसरी स्थिति में हिंसा न तो प्रमाद के कारण होती है और न विवशतावश ही, वरन् सम्पूर्ण सावधानी के बावजूद भी हो जाती है। जैन-विचारणा के अनुसार हिंसा की यह तीसरी स्थिति कर्ता की दृष्टि से निर्दोष मानी जा सकती है क्योंकि इसमें हिंसा का संकल्प पूरी तरह अनुपस्थित रहता है; मात्र यही नहीं, हिंसा से बचने की पूरी सावधानी भी रखी जाती है। हिंसा के संकल्प के अभाव में एवं सम्पूर्ण सावधानी के बावजूद भी यदि हिंसा हो जाती है तो वह हिंसा के सीमाक्षेत्र में नहीं आती है। हमें यह भी समझ लेना होगा कि किसी अन्य संकल्प की पूर्ति के लिए की जानेवाली क्रिया के दौरान यदि सावधानी के बावजूद कोई हिंसा की घटना घटित हो जाती है, जैसे—गृहस्थ उपासक द्वारा भूमि जोतते हुए किसी त्रस-प्राणी की हिंसा हो जाना अथवा किसी मुनि के द्वारा पदयात्रा करते हुए त्रसप्राणी की हिंसा हो जाना, तो

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ४४ २. तत्त्वार्थसूत्र, ७।८

कर्ता को उस हिंसा के प्रति उत्तरदायी नहीं माना जा सकता है क्योंकि उसके मन में उस हिंसा का कोई संकल्प ही नहीं है। अतः ऐसी हिंसा हिंसा नहीं है। हिंसा की उन स्थितियों में, जिनमें हिंसा की जाती हो या हिंसा करनी पड़ती हो, हिंसा का संकल्प या इरादा अवश्य होता है, यह बात अलग है कि एक अवस्था में हम बिना किसी परिस्थितिगत दबाव के स्वतंत्ररूप में हिंसा का संकल्प करते हैं और दूसरे में हमें विवशता में संकल्प करना होता है। फिर भी पहली अधिक निकृष्ट कोटि की है क्योंकि आक्रमणात्मक है।

हिंसा के विभिन्न रूप—हिंसक कर्म की उपर्युक्त तीन अवस्थाओं में यदि हिंसा हो जाने की तीसरी अवस्था को छोड़ दिया जाये तो हमारे समक्ष हिंसा के दो रूप बचते हैं—१. हिंसा की गयी हो और २. हिंसा करनी पड़ी हो। वे दशाएँ जिनमें हिंसा करनी पड़ती है, दो प्रकार की हैं—१. रक्षणात्मक और २. आजीविकात्मक, इसमें दो बातें सम्मिलित हैं—जीवन जीने के साधनों का अर्जन और उनका उपभोग।

जैन दर्शन में इसी आधार पर हिंसा के चार रूप माने गये हैं—

१. **संकल्पजा (संकल्पी हिंसा)**—संकल्प या विचारपूर्वक हिंसा करना। यह आक्रमणात्मक हिंसा है।

२. **विरोधजा**—स्वयं और दूसरे लोगों के जीवन एवं स्वत्वों (अधिकारों) के रक्षण के लिए विवशतावश हिंसा करना। यह सुरक्षात्मक हिंसा है।

३. **उद्योगजा**—आजीविका उपार्जन अर्थात् उद्योग एवं व्यवसाय के निमित्त होनेवाली हिंसा। यह उपार्जनात्मक हिंसा है।

४ **आरम्भजा**—जीवन-निर्वाह के निमित्त होने वाली हिंसा—जैसे भोजन का पकाना। यह निर्वाहात्मक हिंसा है।

हिंसा के कारण

जैन आचार्यों ने हिंसा के चार कारण माने हैं। १. राग, २. द्वेष, ३. कषाय अर्थात् क्रोध, अहंकार, कपट एवं लोभवृत्ति और ४. प्रमाद।

हिंसा के साधन

जहाँ तक हिंसा के मूल साधनों का प्रश्न है, वे तीन हैं—मन, वचन और शरीर। सभी प्रकार की हिंसा इन्हीं तीन साधनों द्वारा होती या की जाती है।

हिंसा और अहिंसा मनोदशा पर निर्भर

जैन विचारधारा के अनुसार न केवल पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि एवं वनस्पति-जगत् ही जीवनयुक्त है, वरन् समग्र लोक सूक्ष्म जीवों से व्याप्त है। अतः प्रश्न होता है

१. अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ७, पृ० १२३१

कि क्या ऐसी स्थिति में कोई पूर्ण अहिंसक हो सकता है ? महाभारत में भी जगत् को सूक्ष्म जीवों से व्याप्त मानकर यही प्रश्न उठाया है। जल में बहुतेरे जीव हैं, पृथ्वी पर तथा वृक्षों के फलों में भी अनेक जीव (प्राण) होते हैं। ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है जो इनमें से किसी को कभी नहीं मारता हो, फिर कितने ही ऐसे सूक्ष्म प्राणी हैं, जो इन्द्रियों से नहीं, मात्र अनुमान से ही जाने जाते हैं—मनुष्य की पलकों के गिरने मात्र से ही जिनके कंधे टूट जाते हैं, अर्थात् मर जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जीवों की हिंसा से नहीं बचा जा सकता है।[१]

प्राचीन युग से ही जैन-विचारकों की दृष्टि भी इस प्रश्न की ओर है। आचार्य भद्रबाहु इस सन्दर्भ में जैन दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—त्रिकालदर्शी जिनेश्वर भगवान् का कथन है कि अनेकानेक जीव-समूहों से परिव्याप्त विश्व में साधक का अहिंसकत्व अन्तर में अध्यात्म विशुद्धि की दृष्टि से ही है, बाह्य हिंसा या अहिंसा की दृष्टि से नहीं है[२]। जैन-विचारधारा के अनुसार भी बाह्य हिंसा से पूर्णतया बच पाना सम्भव नहीं।

हिंसा और अहिंसा का प्रत्यय बाह्य घटनाओं पर उतना निर्भर नहीं है जितना वह साधक की मनोदशा पर आधारित है। हिंसा और अहिंसा के विवेक का आधार प्रमुख रूप से आन्तरिक है। हिंसा में संकल्प की प्रमुखता है। भगवती सूत्र में एक संवाद के द्वारा इसे स्पष्ट किया गया है। गणधर गौतम महावीर से प्रश्न करते हैं—हे भगवन्, किसी श्रमणोपासक ने किसी त्रस प्राणी का वध न करने की प्रतिज्ञा ली हो, लेकिन पृथ्वीकाय की हिंसा की प्रतिज्ञा नहीं ग्रहण की हो, यदि भूमि खोदते हुए उससे किसी प्राणी का वध हो जाय तो क्या उसकी प्रतिज्ञा भंग हुई ? महावीर कहते हैं कि यह मानना उचित नहीं—उसकी प्रतिज्ञा भंग नहीं हुई[३]। इस प्रकार संकल्प की उपस्थिति अथवा साधक की मानसिक स्थिति ही हिंसा-अहिंसा के विचार में प्रमुख तत्त्व है। परवर्ती जैन साहित्य में यही धारणा पुष्ट होती रही है। आचार्य भद्रबाहु का कथन है कि सावधानी पूर्वक चलने वाले साधु के पैर के नीचे भी कभी-कभी कीट, पतंग आदि क्षुद्र प्राणी आ जाते हैं और दब कर मर भी जाते हैं, लेकिन उक्त हिंसा के निमित्त से उसे सूक्ष्म कर्म बंध भी नहीं बताया गया है, क्योंकि यह अन्तर में सर्वतोभावेन उस हिंसा व्यापार से निर्लिप्त होने के कारण निष्पाप है[४]। जो विवेक सम्पन्न अप्रमत्त साधक आन्तरिक विशुद्धि से युक्त है और आगमविधि के अनुसार आचरण करता है, उसके द्वारा हो जाने वाली हिंसा भी कर्म-निर्जरा का कारण है[५]। लेकिन जो व्यक्ति प्रमत्त है

१. महाभारत, शान्ति पर्व १५।२५-२६
२. ओघनिर्युक्ति, ७४७
३. भगवतीसूत्र, ७।१।६-७
४. ओघनिर्युक्ति ७४८-४९
५. ओघनिर्युक्ति, ७५९

उसकी किसी भी चेष्टा से जो भी प्राणी मर जाते हैं, वह निश्चित रूप से उन सबका हिंसक होता है। इतना ही नहीं, वरन् जो प्राणी नहीं मारे गये हैं, प्रमत्त मनुष्य उनका भी हिंसक है, क्योंकि वह अन्तर मे सर्वतोभावेन पापात्मा है[1] इस प्रकार आचार्य का निष्कर्ष यही है कि केवल दृश्यमान् पापरूप हिंसा से ही कोई हिंसक नहीं हो जाता[2]।

आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार में कहते हैं कि बाहर मे प्राणी मरे या जिए असंयताचारी (प्रमत्त) को हिंसा का दोष निश्चित रूप से लगता है। परन्तु जो अहिंसा की साधना के लिए प्रयत्नशील है, समितिवान या संयताचारी है, उसको बाहर से होने वाली हिंसा के कारण कर्म बन्धन नहीं होता[3]। आचार्य अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं कि रागादि कषायों से ऊपर उठकर नियमपूर्वक आचरण करते हुए भी यदि प्राणघात हो जाये तो वह हिंसा नहीं है[4]। निशीथचूर्णि में भी कहा गया है कि प्राणातिपात (हिंसा) होने पर भी अप्रमत्त साधक अहिंसक है और प्राणातिपात न होने पर भी प्रमत्त व्यक्ति हिंसक है[5]। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन आचार्यों की दृष्टि में हिंसा अहिंसा का प्रश्न मुख्य रूप से आन्तरिक रहा है। इस दृष्टिकोण के पीछे प्रमुख विचार यह है कि एक ओर व्यावहारिक रूप में पूर्ण अहिंसा का पालन और दूसरी ओर आध्यात्मिक साधना के लिए जीवन को बनाये रखने का प्रयास, यह दो ऐसी स्थितियाँ हैं जिनको साथ-साथ चलाना सम्भव नहीं होता है। अतः जैन-विचारकों को अन्त में यही स्वीकार करना पड़ा कि हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध बाहरी घटनाओं की अपेक्षा आन्तरिक वृत्तियों से है[6]।

इस दृष्टिकोण का समर्थन हमें गीता और धम्मपद में भी मिलता है। गीता कहती है, जो अहंकार की भावना से मुक्त है, जिसकी बुद्धि मलिन नहीं है, वह इन सब मनुष्यों को मारता हुआ भी नहीं मारता है और वह (अपने इस कर्म के कारण) बन्धन में नहीं पड़ता[7]।

धम्मपद में भी कहा है कि (नैष्कर्म्य-स्थिति को प्राप्त) ब्राह्मण माता-पिता को, दो क्षत्रिय राजाओं को एवं प्रजा-सहित राष्ट्र को मारकर भी, निष्पाप होकर जाता है (क्योंकि वह पाप-पुण्य से ऊपर उठ जाता है)।[8]

यहाँ गीता और धम्मपद में प्रयुक्त 'मार कर' शब्द पर आपत्ति हो सकती है। जैन-परम्परा में सामान्यतया इस प्रकार के प्रयोग नहीं हैं, फिर भी जैनागमों मे ऐसे अपवाद स्थानों का विवेचन उपलब्ध है जबकि हिंसा अनिवार्य हो जाती है। ऐसे अवसरों पर अगर की जाने वाली हिंसा से डर कर कोई उसका आचरण नहीं करता (वह हिंसा-

१. ओघनिर्युक्ति ७५२–५३ २. वही, ७५८
३. प्रवचनसार, ३।१७ ४. पुरुषार्थसिद्धियुक्ति, ४५
५. निशीथचूर्णि ९२ ६. देखिए—दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृ० ४१४
७. गीता, १८-१७ ८. धम्मपद, २९४

नहीं करता) तो उलटे दोष का भागी बनता है[1] यदि गीता में वर्णित युद्ध के अवसर को एक अपवादात्मक स्थिति के रूप में देखें तो सम्भवतः जैन-विचारणा गीता से अधिक दूर नहीं रह जाती है। दोनों ही ऐसी स्थिति में व्यक्ति के चित्त-साम्य (कृतयोगित्व) और परिणत शास्त्रज्ञान (गीतार्थ) पर बल देती हैं।

अहिंसा के बाह्य पक्ष की अवहेलना उचित नहीं—हिंसा-अहिंसा के विचार में जिस भावात्मक आन्तरिक पक्ष पर जैन-आचार्य इतना अधिक बल देते रहे हैं, उसका महत्त्व निर्विवाद रूप से सभी को स्वीकार्य है। यही नहीं, इस सन्दर्भ में जैनदर्शन, गीता और बौद्ध-दर्शन में विचार साम्य है, जिस पर हम विचार कर चुके हैं। यह निश्चित है कि हिंसा-अहिंसा की विवक्षा में भावात्मक या आन्तरिक पहलू ही मूल केन्द्र है, लेकिन दूसरे बाह्य पक्ष की अवहेलना भी कथमपि सम्भव नहीं है। यद्यपि वैयक्तिक साधना की दृष्टि से आध्यात्मिक एवं आन्तरिक पक्ष का ही सर्वाधिक मूल्य है; लेकिन जहाँ सामाजिक एवं व्यावहारिक जीवन का प्रश्न है, हिंसा-अहिंसा की विवक्षा में बाह्य पहलू को भी झुठलाया नहीं जा सकता, क्योंकि व्यावहारिक जीवन और सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से जिस पर विचार किया जा सकता है, वह तो आचरण का बाह्य पक्ष ही है।

गीता और बौद्ध आचार-दर्शन की अपेक्षा भी जैन-दर्शन ने इस बाह्य पक्ष पर गहनतापूर्वक समुचित विचार किया है। जैन-परम्परा यह मानती है कि किन्हीं अपवाद की अवस्थाओं को छोड़ कर सामान्यतया जो विचार में है, वही व्यवहार में प्रकट होता है। अन्तरंग और बाह्य अथवा विचार और आचार के सम्बन्ध में द्वैत दृष्टि उसे स्वीकार्य नहीं है। उसकी दृष्टि में अन्तरंग में अहिंसक वृत्ति के होते हुए बाह्य हिंसक आचरण कर पाना, यह एक प्रकार की भ्रान्ति है, छलना है, आत्मप्रवंचना है। सूत्रकृतांगसूत्र में कहा गया है कि यदि हृदय पापमुक्त हो तो (हिंसादि) क्रिया करने पर भी निर्वाण अवश्य मिलता है, यह एक मिथ्या धारणा है। यदि गीता का यह मन्तव्य हो कि अन्तर में अहिंसक वृत्ति के होते हुए भी हिंसात्मक क्रिया की जा सकती है, तो जैन दर्शन का उससे स्पष्ट विरोध है। जैनधर्म कहता है कि अन्तर में अहिंसक वृत्ति के होते हुए हिंसा की नहीं जा सकती, यद्यपि हिंसा हो सकती है। हिंसा करना सदैव ही संकल्पात्मक होगा और आन्तरिक विशुद्धि के होते हुए हिंसात्मक कर्म का संकल्प सम्भव ही नहीं।[2]

वस्तुतः हिंसा-अहिंसा की विवक्षा में जैन-दृष्टि का सार यह है कि हिंसा चाहे वह बाह्य हो या आन्तरिक, वह आचार का नियम नहीं हो सकती।

दूसरे, हिंसा-अहिंसा की विवक्षा में बाह्य पक्ष की अवहेलना भी मात्र कतिपय अपवादात्मक अवस्थाओं में ही क्षम्य है। हिंसा का हेतु मानसिक प्रवृत्तियाँ, कषायें हैं,

---

१. देखिए—दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृ० ४१६ २. सूत्रकृतांग, २।६।३५

यह मानना तो ठीक है, लेकिन यह मानना कि मानसिक वृत्ति या कषायों के अभाव में होने वाली द्रव्यहिंसा हिंसा नहीं है, उचित नहीं। यह ठीक है कि संकल्पजन्य हिंसा अधिक निकृष्ट और निकाश्चित कर्म-बंध करती है, लेकिन संकल्प के अभाव में होने वाली हिंसा, हिंसा नहीं है या उसमे कर्म-आस्रव नहीं होता है, यह जैनकर्म-सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। व्यावहारिक जीवन में हमें इसको हिंसा मानना होगा। इस प्रकार के दृष्टिकोण को निम्न कारणों से उचित नहीं माना जा सकता—

(१) जैन-दर्शन में आस्रव का कारण तीन योग है—(अ) मनयोग (ब) वचनयोग और (स) काययोग। इनमें से किसी भी योग के कारण कर्मों का आगमन (आस्रव) होता अवश्य है द्रव्यहिंसा मे काया की प्रवृत्ति है अतः उसके कारण आस्रव होता है। जहाँ आस्रव है, वहाँ हिंसा है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में आस्रव के पाँच द्वार (१. हिंसा, २. असत्य, ३. स्तेय, ४. अब्रह्मचर्य ५. परिग्रह) माने गये हैं जिसमें प्रथम आस्रवद्वार हिंसा है। ऐसा कृत्य जिसमें प्राण वियोजन होता है, हिंसा है और दूपित है। यह ठीक है कि कषायों के अभाव में उसमे निकाश्चित कर्म-बंध नहीं होता है, लेकिन क्रिया दोष तो लगता है।

(२) जैन-शास्त्रों में वर्णित पच्चीस क्रियाओं में 'ईर्यापथिक' क्रिया भी है। जैन-तीर्थंकर राग द्वेष आदि कषायों से मुक्त होते हैं, लेकिन काययोग के कारण उन्हें ईर्यापथिक क्रिया लगती है और ईर्यापथिक बंध भी होता है। यदि द्रव्य-हिंसा मानसिक कषायों के अभाव में हिंसा नहा है तो कायिक व्यापार के कारण उन्हें ईर्यापथिक क्रिया क्यों लगती? इसका तात्पर्य यह है कि द्रव्यहिंसा हिंसा है।

(३) द्रव्य हिंसा यदि मानसिक प्रवृत्तियों के अभाव में हिंसा ही नहीं है तो फिर यह दो भेद—भाव हिंसा और द्रव्यहिंसा नहीं रह सकते।

(४) वृत्ति और आचरण का अन्तर कोई सामान्य नियम नहीं है। सामान्य रूप से व्यक्ति को जैसी वृत्तियाँ होती हैं, वैसा ही उसका आचरण होता है। अतः यह मानना कि आचरण का बाह्य पक्ष वृत्तियों से अलग होकर कार्य कर सकता है, एक भ्रान्त धारणा है।

पूर्ण अहिंसा के आदर्श की दिशा में—यद्यपि आन्तरिक और बाह्य रूप से पूर्ण अहिंसा के आदर्श की उपलब्धि जैन दर्शन का साध्य है, लेकिन व्यवहार के क्षेत्र में इस आदर्श की उपलब्धि सहज नहीं है। अहिंसा एक आध्यात्मिक आदर्श है और आध्यात्मिक स्तर पर ही इसकी पूर्ण उपलब्धि सम्भव है, लेकिन व्यक्ति का वर्तमान जीवन अध्यात्म और भौतिकता का एक सम्मिश्रण है। जीवन के आध्यात्मिक स्तर पर पूर्ण अहिंसा सम्भव है, लेकिन भौतिक स्तर पर पूर्ण अहिंसा की कल्पना समीचीन नहीं है। अहिंसक जीवन की सम्भावनाएँ भौतिक स्तर से ऊपर उठने पर विकसित

होती है—व्यक्ति जैसे-जैसे भौतिकता के स्तर से ऊपर उठता जाता है, वैसे-वैसे अहिंसक जीवन की पूर्णता की दिशा में बढ़ता जाता है। इसी आधार पर जैन धर्म में अहिंसा की दिशा में बढ़ने के लिए कुछ स्तर निर्धारित हैं।

हिंसा का वह रूप जिसे संकल्पजा हिंसा कहा जाता है, सभी के लिए त्याज्य है। संकल्पजा हिंसा हमारे वैचारिक या मानसिक जगत् पर निर्भर है। मानसिक संकल्प के कर्ता के रूप में व्यक्ति में स्वतन्त्रता की सम्भावनाएँ सर्वाधिक विकसित हैं। अपने मनोजगत् में व्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र है। इस स्तर पर पूरी तरह से अहिंसा का पालन अधिक सहज एवं सम्भव है। बाह्य स्थितियाँ इस स्तर पर हमें प्रभावित कर सकती हैं, लेकिन शासित नहीं कर सकतीं। व्यक्ति स्वयं अपने विचारों का स्वामी होता है, अतः इस स्तर पर अहिंसक होना सभी के लिए आवश्यक है। व्यावहारिक दृष्टि से संकल्पजा हिंसा आक्रमणकारी हिंसा है। यह न तो जीवन के रक्षण के लिए है और न जीवन-निर्वाह के लिए है, अतः यह सभी के लिए त्याज्य है।

हिंसा का दूसरा रूप विरोधजा है। यह प्रत्याक्रमण या सुरक्षात्मक है। स्व एवं पर के जीवन एवं स्वत्वों के रक्षण के लिए यह हिंसा करनी पड़ती है। इसमें बाह्य परिस्थितिगत तत्त्वों का प्रभाव प्रमुख होता है। बाह्य स्थितियाँ व्यक्ति को बाध्य करती हैं कि वह अपने एवं अपने साथियों के जीवन एवं स्वत्वों के रक्षण के लिए प्रत्याक्रमण के रूप में हिंसा करे। जो भी मनुष्य शरीर एवं अन्य भौतिक संस्थानों पर अपना स्वत्व रखना चाहते हैं अथवा जो अपने और अपने साथियों के अधिकारों में आस्था रखते हैं, वे इस विरोधजा हिंसा को छोड़ नहीं सकते। गृहस्थ या श्रावक हिंसा के इस रूप को पूरी तरह छोड़ पाने में असमर्थ होते हैं, क्योंकि वे शरीर एवं अन्य भौतिक वस्तुओं पर अपना स्वत्व रखना चाहते हैं। इसी प्रकार शासक वर्ग एवं राजनैतिक नेता जो मानवीय अधिकारों में एवं राष्ट्रीय हितों में आस्था रखते हैं, इसे पूरी तरह छोड़ने में असमर्थ हैं।

यद्यपि आधुनिक युग में गांधी एक ऐसे विचारक अवश्य हुए हैं जिन्होंने विरोध का अहिंसक तरीका प्रस्तुत किया और उसमें सफलता भी प्राप्त की, तथापि अहिंसक रूप से विरोध करना और उसमें सफलता प्राप्त करना हर किसी के लिए सम्भव नहीं है। अहिंसक प्रक्रिया से अधिकारों का संरक्षण करने में वही सफल हो सकता है जिसे शरीर का मोह न हो, पदार्थों में आसक्ति न हो और विद्वेष भाव न हो। इतना ही नहीं, अहिंसक तरीके से अधिकारों के संरक्षण की कल्पना एक सभ्य एवं सुसंस्कृत मानव समाज में ही सम्भव हो सकती है। यदि विरोधी पक्ष मानवीय स्तर पर हो, तब तो अहिंसक विरोध सफल हो जाता है, लेकिन यदि विरोधी पक्ष पाशविक स्तर पर हो तो अहिंसक विरोध की सफलता सन्देहास्पद बन जाती है। मानव में मानवीय-गुणों की सम्भावना की आस्था ही अहिंसक विरोध का केन्द्रीय तत्त्व है। मानवीय गुणों

में हमारी आस्था जितनी बलशाली होगी और विरोधी में मानवीय गुणों का जितना अधिक प्रकटन होगा, अहिंसक विरोध की सफलता भी उतनी ही अधिक होगी ।

जहाँ तक उद्योगजा और आरम्भजा हिंसा की बात है, एक गृहस्थ उससे नहीं बच सकता, क्योंकि जब तक शरीर का मोह है, तब तक आजीविका का अर्जन और शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति दोनों ही आवश्यक हैं । यद्यपि इस स्तर पर मनुष्य अपने को त्रस प्राणियों की हिंसा से बचा सकता है । जैन धर्म में उद्योग-व्यवसाय एवं भरण-पोषण के लिए भी त्रस जीवों की हिंसा करने का निषेध है ।

लेकिन, जब व्यक्ति शरीर और सम्पत्ति के मोह से ऊपर उठ जाता है तो वह पूर्ण अहिंसा की दिशा में और आगे बढ़ जाता है । जहाँ तक श्रमण साधक या संन्यासी की बात है, वह अपरिग्रही होता है, उसे अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं होता, अतः वह सर्वतोभावेन हिंसा से विरत होने का व्रत लेता है । शरीर धारण मात्र के लिए कुछ अपवादों को छोड़कर वह संकल्पपूर्वक और विवशतावश दोनों ही परिस्थितियों में त्रस और स्थावर हिंसा से विरत हो जाता है । मुनि नथमलजी के शब्दों में कोई भी व्यक्ति एक ही डग में चोटी तक नहीं पहुँच सकता । वह धीमे-धीमे आगे बढ़ता है । भगवान् महावीर ने अहिंसा की पहुँच के कुछ स्तर निर्धारित किये थे जो वस्तुस्थिति पर आधारित हैं । उन्होंने हिंसा को तीन भागों में विभक्त किया—(१) संकल्पजा (२) विरोधजा और (३) आरम्भजा । संकल्पजा हिंसा आक्रमणात्मक हिंसा है । वह सबके लिए सर्वथा परिहार्य है । विरोधजा हिंसा प्रत्याक्रमणात्मक हिंसा है । उसे छोड़ने में वह असमर्थ होता है, जो भौतिक संस्थानों पर अपना अस्तित्व रखना चाहता है । आरम्भजा हिंसा आजीविकात्मक हिंसा है । उसे छोड़ने में वे सब असमर्थ होते हैं जो भौतिक साधनों के अर्जन संरक्षण द्वारा अपना जीवन चलाना चाहते हैं ।[1]

प्रथम स्तर पर हम आसक्ति, तृष्णा आदि के वशीभूत होकर की जाने वाली अनावश्यक आक्रमणात्मक हिंसा से बचें, फिर दूसरे स्तर पर जीवनयापन एवं आजीविकोपार्जन के निमित्त होनेवाली त्रस हिंसा से विरत हों, तीसरे स्तर पर विरोध के अहिंसक तरीके को अपनाकर प्रत्याक्रमणात्मक हिंसा से विरत हों । इस प्रकार जीवन के लिए आवश्यक जैसी हिंसा से भी क्रमशः ऊपर उठते हुए चौथे स्तर पर शरीर और परिग्रह की आसक्ति का परित्याग कर सर्वतोभावेन पूर्ण अहिंसा की दिशा में आगे बढ़ें ।

इस प्रकार पूर्ण अहिंसा का आदर्श पूर्णतया अव्यावहारिक भी नहीं रहता है । मनुष्य जैसे-जैसे सम्पत्ति और शरीर के मोह से ऊपर उठता जाता है, अहिंसा का आदर्श उसके लिए व्यवहार्य बनता जाता है । पूर्ण अनासक्त जीवन में पूर्ण अहिंसा व्यवहार्य बन जाती है ।

१. तट दो प्रवाह एक, पृ० ४०

यद्यपि शरीरधारी रहते हुए पूर्ण अहिंसा एक आदर्श ही रहेगी, वह यथार्थ नहीं बन पावेगी। जब शरीर के संरक्षण का मोह समाप्त होगा तभी वह आदर्श यथार्थ की भूमि पर अवतरित होगा। फिर भी एक बात ध्यान में रखनी होगी, वह यह कि जब तक शरीर है और शरीर के संरक्षण की वृत्ति है, चाहे वह साधना के लिए ही क्यों न हो, यह कथमपि सम्भव नही है कि व्यक्ति पूर्ण अहिंसा के आदर्श को पूर्णरूपेण साकार कर सके। शरीर के लिए आहार आवश्यक है, कोई भी आहार बिना हिंसा के सम्भव नहीं होगा। चाहे हमारा मुनिवर्ग यह कहता भी हो कि हम औद्देशिक आहार नहीं लेते हैं किन्तु क्या उनकी विहार-यात्रा में साथ चलनेवाला पूरा लवाजिमा, सेवा में रहने के नाम पर लगनेवाले चौके औद्देशिक नहीं हैं? जब समाज में रात्रिभोजन सामान्य हो गया हो, क्या सन्ध्याकालीन गोचरी में अनौद्देशिक आहार मिल पाना सम्भव है, क्या कश्मीर से कन्याकुमारी तक और बम्बई से कलकत्ता तक की सारी यात्राएँ औद्देशिक आहार के अभाव में निर्विघ्न सम्भव हो सकती हैं? क्या आर्हत-प्रवचन की प्रभावना के लिए मन्दिरों का निर्माण, पूजा और प्रतिष्ठा के समारोह, संस्थाओं का संचालन, मुनि-जनों के स्वागत और विदाई समारोह तथा संस्थाओं के अधिवेशन षट्काय की नव-कोटियुक्त अहिंसा के परिपालन के साथ कोई संगति रख सकते हैं? हमें अपनी अन्तरात्मा से यह सब पूछना होगा। हो सकता है कि कुछ विरल सन्त और साधक हों जो इन कसौटियों पर खरे उतरते हों, मैं उनकी बात नहीं कहता, वे शतशः वन्दनीय हैं, किन्तु सामान्य स्थिति क्या है? फिर भिक्षाचर्या, पाद-विहार, शरीर संचालन, श्वासोच्छ्वास किसमें हिंसा नहीं है। पृथ्वी, अग्नि, वायु, वनस्पति अदि सभी में जीव हैं, ऐसा कोई मनुष्य नहीं जो इन्हें नहीं मारता हो, पुनः कितने ही ऐसे सूक्ष्म प्राणी हैं जो इन्द्रियों से नहीं, अनुमान से जाने जाते हैं, मनुष्य की पलकों के झपकने मात्र से ही जिनके कंधे टूट जाते हैं अतः जीव-हिंसा से बचा नहीं जा सकता। एक ओर षट्जीव-निकाय की अवधारणा और दूसरी ओर नवकोटियुक्त पूर्ण अहिंसा का आदर्श, जीवित रहकर इन दोनों में संगति बिठा पाना अशक्य है। अतः जैन आचार्यों को भी यह कहना पड़ा कि 'अनेकानेक जीव-समूहों से परिव्याप्त विश्व में साधक का अहिंसकत्व अन्तर में आध्यात्मिक विशुद्धि की दृष्टि से ही है' (ओघनिर्युक्ति, ७४७)। लेकिन इसका यह अर्थ भी नहीं है कि हम अहिंसा को अव्यवहार्य मानकर तिलांजलि दे देवें। यद्यपि एक शरीरधारी के नाते यह हमारी विवशता है कि हम द्रव्य और भाव दोनों अपेक्षा से पूर्ण अहिंसा के आदर्श को उपलब्ध नहीं कर सकते हैं किंतु उस दिशा में क्रमशः आगे बढ़ सकते हैं और जीवन की पूर्णता के साथ ही पूर्ण अहिंसा के आदर्श को भी उपलब्ध कर सकते हैं। कम से कम हिंसा की दिशा में आगे बढ़ते हुए साधक के लिए जीवन का अन्तिम क्षण अवश्य ही ऐसा है, जब वह पूर्ण अहिंसा के आदर्श को साकार कर सकता है। जैनधर्म की पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो पादोपगमन

संथारा एवं चौदहवें अयोगी केवली गुणस्थान की अवस्थाएँ ऐसी हैं जिनमें पूर्ण अहिंसा का आदर्श साकार हो जाता है।

पूर्ण अहिंसा सामाजिक सन्दर्भ में

पुनः अहिंसा की सम्भावना पर हमें न केवल वैयक्तिक दृष्टि से विचार करना है अपितु सामाजिक दृष्टि से भी विचार करना है। चाहे यह सम्भव भी हो, व्यक्ति शरीर, सम्पत्ति, संघ और समाज से निरपेक्ष होकर पूर्ण अहिंसा के आदर्श को उपलब्ध कर सकता है; फिर भी ऐसी निरपेक्षता किन्हीं विरल साधकों के लिए ही सम्भव होगी, सर्व सामान्य के लिए तो सम्भव नहीं कही जा सकती है। अतः मूल प्रश्न यह है कि क्या सामाजिक जीवन पूर्ण अहिंसा के आदर्श पर खड़ा किया जा सकता है? क्या पूर्ण अहिंसक समाज की रचना सम्भव है? इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व मैं आपसे समाज-रचना के स्वरूप पर कुछ बातें कहना चाहूँगा। एक तो यह कि अहिंसक चेतना अर्थात् संवेदनशीलता के अभाव में समाज की कल्पना ही सम्भव नहीं है। समाज जब भी खड़ा होता है आत्मीयता, प्रेम और सहयोग के आधार पर खड़ा होता है अर्थात् अहिंसा के आधार पर खड़ा होता है। क्योंकि हिंसा का अर्थ है—घृणा, विद्वेष, आक्रामकता; और जहाँ भी ये वृत्तियाँ बलवती होंगी सामाजिकता की भावना ही समाप्त हो जावेगी, समाज ढह जावेगा। अतः समाज और अहिंसा सहगामी हैं। दूसरे शब्दों में यदि हम मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी मानते हैं तो हमें यह मानना होगा कि अहिंसा उसके लिए स्वाभाविक ही है। जब भी कोई समाज खड़ा होगा और टिकेगा तो वह अहिंसा की भित्ति पर ही खड़ा होगा और टिकेगा। किंतु एक दूसरा पहलू भी है, वह यह कि समाज के लिए भी अपने अस्तित्व और अपने सदस्यों के हितों के संरक्षण का प्रश्न मुख्य है और जहाँ अस्तित्व की सुरक्षा और हितों के संरक्षण का प्रश्न है, वहाँ हिंसा अपरिहार्य है। हितों में टकराव स्वाभाविक है, अनेक बार तो एक का हित दूसरे के अहित पर, एक का अस्तित्व दूसरे के विनाश पर खड़ा होता है, ऐसी स्थिति में समाज-जीवन में भी हिंसा अपरिहार्य होगी। पुनः समाज का हित और सदस्य-व्यक्ति का हित भी परस्पर विरोध में हो सकता है। जब वैयक्तिक और सामाजिक हितों के संघर्ष की स्थिति हो तो बहुजन हितार्थ हिंसा अपरिहार्य भी हो सकती है। जब समाज या राष्ट्र का कोई सदस्य या वर्ग अथवा दूसरा राष्ट्र अपने हितों के लिये हिंसा पर अथवा अन्याय पर उतारू हो जाये तो निश्चय ही अहिंसा की दुहाई देने से काम न चलेगा। जब तक जैन आचार्यों द्वारा उद्घोषित 'मानव जाति एक है' की कल्पना साकार नहीं हो पाती, जब तक सम्पूर्ण मानव समाज ईमानदारी के साथ अहिंसा के पालन के लिए प्रतिबद्ध नहीं होता, तब तक अहिंसक समाज की बात करना कपोलकल्पना ही कहा जायेगा। जैनागम जिस पूर्ण अहिंसा के आदर्श को प्रस्तुत करते हैं उसमें भी जब संघ की या संघ के किसी सदस्य की सुरक्षा या न्याय का प्रश्न आया तो हिंसा को स्वीकार करना पड़ा। गणाधि-

पति चेटक और आचार्य कालक के उदाहरण इसके प्रमाण हैं। यही नहीं, निशीथचूर्णि में तो यहाँ तक स्वीकार कर लिया गया है कि संघ की सुरक्षा के लिए मुनि भी हिंसा का सहारा ले सकता है। ऐसे प्रसंगों में पशु-हिंसा तो क्या मनुष्य की हिंसा भी उचित मान ली गयी है। जब तक मानव समाज का एक भी सदस्य पाशविक प्रवृत्तियों में आस्था रखता है यह सोचना व्यर्थ ही है कि सामुदायिक जीवन में पूर्ण अहिंसा का आदर्श व्यवहार्य बन सकेगा। निशीथचूर्णि में अहिंसा के अपवादों को लेकर जो कुछ कहा गया है, उसे चाहे कुछ लोग साध्वाचार के रूप में सीधे मान्य करना न चाहते हों; किंतु क्या यह नपुंसकता नहीं होगी जब किसी मुनि संघ के सामने किसी तरुणी साध्वी का अपहरण हो रहा हो या उस पर बलात्कार हो रहा हो और वे अहिंसा की दुहाई देते हुए मौन दर्शक बने रहें ? क्या उनका कोई दायित्व नहीं है ? यह बात चाहे हास्यास्पद लगती हो कि अहिंसा की रक्षा के लिए हिंसा आवश्यक है किन्तु व्यावहारिक जीवन में अनेक बार ऐसी परिस्थितियाँ आ सकती हैं जिनमें अहिंसक संस्कृति की रक्षा के लिए हिंसक वृत्ति अपनानी पड़े। यदि हिंसा में आस्था रखनेवाला कोई समाज किसी अहिंसक समाज को पूरी तरह मिटा देने को तत्पर हो जावे, क्या उस अहिंसक समाज को अपने अस्तित्व के लिए कोई संघर्ष नहीं करना चाहिए ? हिंसा-अहिंसा का प्रश्न निरा वैयक्तिक प्रश्न नहीं है। जब तक सम्पूर्ण मानव समाज एक साथ अहिंसा की साधना के लिए तत्पर नहीं होता है, किसी एक समाज या राष्ट्र द्वारा कही जानेवाली अहिंसा के आदर्श की बात कोई अर्थ नहीं रखती है। संरक्षणात्मक और सुरक्षात्मक हिंसा समाज-जीवन के लिए अपरिहार्य है। समाज-जीवन में इसे मान्य भी करना ही होगा। इसी प्रकार उद्योग-व्यवसाय और कृषि कार्यों में होनेवाली हिंसा भी समाज-जीवन में बनी ही रहेगी। मानव समाज में मांसाहार एवं तज्जन्य हिंसा को समाप्त करने की दिशा में सोचा तो जा सकता है किन्तु उसके लिए कृषि के क्षेत्र में एवं अहिंसक आहार की प्रचुर उपलब्धि के सम्बन्ध में व्यापक अनुसंधान एवं तकनीकी विकास की आवश्यकता होगी। यद्यपि हमें यह समझ भी लेना होगा कि जब तक मनुष्य की संवेदनशीलता को पशुजगत् तक विकसित नहीं किया जावेगा और मानवीय आहार को सात्विक नहीं बनाया जावेगा मनुष्य की आपराधिक प्रवृत्तियों पर पूरा नियन्त्रण नहीं होगा। आदर्श अहिंसक समाज की रचना हेतु हमें समाज से आपराधिक प्रवृत्तियों को समाप्त करना होगा और आपराधिक प्रवृत्तियों के नियमन के लिए हमें मानव जाति में संवेदनशीलता, संयम एवं विवेक के तत्त्वों को विकसित करना होगा।

अहिंसा के सिद्धान्त पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार—अहिंसा के आदर्श को जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराएँ समान रूप से स्वीकार करती हैं। लेकिन जहाँ तक अहिंसा के पूर्ण आदर्श को व्यावहारिक जीवन में उतारने की बात है, तीनों ही परम्पराएँ कुछ अपवादों को स्वीकार कर जीवन के धारण और रक्षण के निमित्त हो जाने वाले जीव-

घात (हिंसा) को हिंसा के रूप में नहीं मानती हैं। यद्यपि इन अपवादात्मक स्थितियों में भी साधक का राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठ कर अप्रमत्त चेता होना आवश्यक है। इस प्रकार तीनों परम्पराएँ इस सम्बन्ध में भी एकमत हो जाती हैं कि हिंसा-अहिंसा का प्रश्न मुख्य रूप से आन्तरिक है; बाह्य रूप में हिंसा के होने पर भी राग-द्वेष वृत्तियों से ऊपर उठा हुआ अप्रमत्त मनुष्य अहिंसक है, जबकि बाह्य रूप में हिंसा नहीं होने पर भी प्रमत्त मनुष्य हिंसक है। तीनों परम्पराएँ इस सम्बन्ध में भी एकमत हैं कि अपने-अपने शास्त्रों की आज्ञानुसार आचरण करने पर होने वाली हिंसा हिंसा नहीं है।[1]

अतः अहिंसा सम्बन्धी सैद्धान्तिक मान्यताओं में सभी आचारदर्शन एकदूसरे के पर्याप्त निकट आ जाते हैं, लेकिन इन आधारों पर यह मान लेना भ्रांति है कि व्यावहारिक जीवन में अहिंसा के प्रत्यय का विकास सभी आचारदर्शनों में समान रूप से हुआ है।

अहिंसा के सिद्धान्त की सार्वभौम स्वीकृति के बावजूद भी अहिंसा के अर्थ को लेकर सब धर्मों में एकरूपता नहीं है। हिंसा और अहिंसा के बीच खींची गई भेद-रेखा सभी में अलग-अलग है। कहीं पशुवध को ही नहीं, नरबलि को भी हिंसा की कोटि में नहीं माना गया है तो कहीं वानस्पतिक हिंसा अर्थात् पेड़-पौधे को पीड़ा देना भी हिंसा माना जाता है। चाहे अहिंसा की अवधारणा उन सबमें समानरूप से उपस्थित हो किन्तु अहिंसक चेतना का विकास उन सबमें समानरूप से नहीं हुआ है। क्या मूसा के Thou shalt not kill के आदेश का वही अर्थ है जो महावीर की '**सव्वेसत्ता न हंतव्वा**' की शिक्षा का है? यद्यपि हमें यह ध्यान रखना होगा कि अहिंसा के अर्थविकास की यह यात्रा किसी कालक्रम में न होकर मानव जाति की सामाजिक चेतना तथा मानवीय विवेक एवं संवेदनशीलता के विकास के परिणामस्वरूप हुई है। जो व्यक्ति या समाज जीवन के प्रति जितना अधिक संवेदनशील बना उसने अहिंसा के प्रत्यय को उतना ही अधिक व्यापक अर्थ प्रदान किया। अहिंसा के अर्थ का यह विस्तार भी तीनों रूपों में हुआ है—एक ओर अहिंसा के अर्थ को व्यापकता दी गई, तो दूसरी ओर अहिंसा का विचार अधिक गहन होता चला गया है। एक ओर स्वजाति और स्वधर्मी मनुष्य की हत्या के निषेध से प्रारंभ होकर षट्जीवनिकाय की हिंसा के निषेध तक इसने अर्थविस्तार पाया है तो दूसरी ओर प्राणवियोजन के बाह्य रूप से द्वेष, दुर्भावना और असावधानी (प्रमाद) के आन्तरिक रूप तक, इसने गहराईयों में प्रवेश किया है। पुनः अहिंसा ने 'हिंसा मत करो' के निषेधात्मक अर्थ से लेकर दया, करुणा, दान, सेवा और सहयोग के विधायक अर्थ तक भी अपनी यात्रा की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अहिंसा का अर्थविकास त्रि-आयामी (थ्री डाईमेन्सनल) है। अतः जब भी हम अहिंसा की अवधारणा को लेकर कोई चर्चा करना चाहते हैं तो हमें उसके सभी पहलुओं की ओर ध्यान देना होगा।

---

१. दर्शन और चिन्तन, पृ० ४१०–४११.

जैनागमों के संदर्भ में अहिंसा के अर्थ की व्याप्ति को लेकर कोई चर्चा करने के पूर्व हमें यह देख लेना होगा कि अहिंसा की इस अवधारणा ने कहाँ कितना अर्थ पाया है।

यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म में अहिंसा का अर्थविस्तार

मूसा ने धार्मिक जीवन के लिए जो दस आदेश प्रसारित किये थे उनमें एक है 'तुम हत्या मत करो' किन्तु इस आदेश का अर्थ यहूदी समाज के लिए व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए अपनी जातीय भाई की हिंसा नहीं करने से अधिक नहीं रहा। धर्म के नाम पर तो हम स्वयं पिता को अपने पुत्र की बलि देता हुआ देखते हैं। इस्लाम ने चाहे अल्लाह को 'रहमानुर्रहीम'—करुणाशील कह कर सम्बोधित किया हो, और चाहे यह भी मान लिया हो कि सभी जीवधारियों को जीवन उतना ही प्रिय है, जितना तुम्हें अपना है, किन्तु उसमें अल्लाह की इस करुणा का अर्थ स्वधर्मियों तक ही सीमित रहा। इतर मनुष्यों के प्रति इस्लाम आज तक संवेदनशील नहीं बन सका है। पुनः यहूदी और इस्लाम दोनों ही धर्मों में धर्म के नाम पर पशुबलि को सामान्य रूप से आज तक स्वीकृत किया जाता है। इस प्रकार इन धर्मों में मनुष्य की संवेदनशीलता स्वजाति और स्वधर्मी अर्थात् अपनों से अधिक अर्थविस्तार नहीं पा सकी है। इस संवेदनशीलता का अधिक विकास हमें ईसाई धर्म में दिखाई देता है। ईसा शत्रु के प्रति भी करुणाशील होने की बात कहते हैं। वे अहिंसा, करुणा और सेवा के क्षेत्र में अपने और पराये, स्वधर्मी और विधर्मी, शत्रु और मित्र के भेद से ऊपर उठ जाते हैं। इस प्रकार उनकी करुणा सम्पूर्ण मानवता के प्रति बरसी है। यह बात अलग है कि मध्ययुग में ईसाइयों ने धर्म के नाम पर खून की होली खेली हो और ईश्वर-पुत्र के आदर्शों की अवहेलना की हो किन्तु ऐसा तो हम सभी करते हैं। धर्म के नाम पर पशुबलि की स्वीकृति भी ईसाई धर्म में नहीं देखी जाती है। इस प्रकार उसमें अहिंसा की अवधारणा अधिक व्यापक बनी है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें सेवा तथा सहयोग के मूल्यों के माध्यम से अहिंसा को एक विधायक दिशा भी प्रदान की है। फिर भी सामान्य जीवन में पशुवध और मांसाहार के निषेध की बात वहाँ नहीं उठाई गई है। अतः उसकी अहिंसा की अवधारणा मानवता तक ही सीमित मानी जा सकती है, वह भी समस्त प्राणी जगत् की पीड़ा के प्रति संवेदनशील नहीं बन सका।

भारतीय चिन्तन में अहिंसा का अर्थ-विस्तार

चाहे वेदों में 'पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः' (ऋग्वेद, ६.७५.१४) के रूप में एक दूसरे की सुरक्षा की बात कही गई हो अथवा 'मित्रास्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे' (यजुर्वेद, ३६.१८) के रूप में सर्वप्राणियों के प्रति मित्र-भाव की कामना की गई हो किंतु वेदों की यह अहिंसक चेतना भी मानवजाति तक ही सीमित रही है। मात्र इतना ही नहीं, वेदों में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनमें शत्रु-वर्ग के विनाश के लिए प्रार्थनाएँ भी की गई हैं। यज्ञों में पशुबलि स्वीकृत रही, वेद विहित हिंसा को हिंसा की कोटि में नहीं

माना गया। इस प्रकार उनमें धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा को समर्थन ही दिया गया। वेदों में अहिंसा की अवधारणा का अर्थविस्तार उतना ही है जितना कि यहूदी और इस्लाम धर्म में। वैदिक धर्मकी पूर्व-परम्परा में भी अहिंसा का सम्बन्ध मानव जाति तक ही सीमित रहा। 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' का उद्घोष तो हुआ, लेकिन व्यावहारिक जीवन में वह मानव-प्राणी से अधिक ऊपर नहीं उठ सका। इतना ही नहीं, एक ओर पूर्ण अहिंसा के बौद्धिक आदर्श की बात और दूसरी ओर मांसाहार की लालसा एवं रूढ़ परम्पराओं के प्रति अंध आस्था ने अपवाद का एक नया आयाम खड़ा किया और कहा गया कि 'वेदविहित हिंसा हिंसा नहीं है।'[1] श्रमण परम्पराएँ इस दिशा में और आगे आयीं और उन्होंने अहिंसा की व्यावहारिकता का विकास समग्र प्राणी-जगत् तक करने का प्रयास किया और इसी आधार पर वैदिक हिंसा की खुल कर आलोचना की गई। कहा गया कि यदि यूप के छेदन करने से और पशुओं की हत्या करने से और खून का कीचड़ मचाने से ही स्वर्ग मिलता हो तो फिर नर्क में कैसे जाया जावेगा।[2] यदि हनन किया गया पशु स्वर्ग को जाता है तो फिर यजमान अपने माता-पिता की बलि ही क्यों नहीं दे देता?[3] अहिंसक चेतना का सर्वाधिक विकास हुआ है श्रमण परम्परा में। इसका मुख्य कारण यह था कि गृहस्थ जीवन में रहकर पूर्ण अहिंसा के आदर्श को साकार कर पाना सम्भव नहीं था। जीवनयापन अर्थात् आहार, सुरक्षा आदि के लिए हिंसा आवश्यक तो है ही, अतः उन सभी धर्म परम्पराओं में जो मूलतः निवृत्तिपरक या संन्यासमार्गीय नहीं थीं, अहिंसा को उतना अर्थविस्तार प्राप्त नहीं हो सका जितना श्रमणधारा या संन्यासमार्गीय परंपरा में सम्भव था। यद्यपि श्रमण परंपराओं के द्वारा हिंसापरक यज्ञ-यागों की आलोचना और मानवीय विवेक एवं संवेदनशीलता के विकास का एक परिणाम यह हुआ कि वैदिक परम्परा में भी एक ओर वेदों के पशुहिंसा-परक पदों का अर्थ अहिंसक रीति से किया जाने लगा (महाभारत के शान्तिपर्व में राजा वसु का आख्यान—अध्याय ३३७-३३८—इसका प्रमाण है) तो दूसरी ओर धार्मिक जीवन के लिए कर्मकाण्ड को अनुपयुक्त मानकर औपनिषदिक धारा के रूप में ज्ञान-मार्ग का और भागवत धर्म के रूप में भक्ति-मार्ग का विकास हुआ। इसमें अहिंसा का अर्थविस्तार सम्पूर्ण प्राणीजगत् अर्थात् त्रस जीवों की हिंसा के निषेध तक हुआ है। वैदिक परम्परा में संन्यासी को कन्दमूल एवं फल का उपभोग करने की स्वतन्त्रता है, इस प्रकार वहाँ वानस्पतिक हिंसा का विचार उपस्थित नहीं है। फिर भी यह तो सत्य है कि अहिंसक चेतना को सर्वाधिक विकसित करने का श्रेय श्रमण परम्पराओं को ही है। भारत में ई० पू० ६ठीं शताब्दी का जो भी इतिवृत्त हमें प्राप्त होता है उससे ऐसा लगता है कि उस युग में पूर्ण अहिंसा के आदर्श को साकार बनाने में श्रमण सम्प्रदायों में होड़ लगी

---

१. "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति". २. अभिधान राजेन्द्रकोश, खण्ड ७, पृ० १२२९.
३. भारतीय दर्शन (दत्त एवं चटर्जी), पृ० ४३ पर उद्धृत.

हुई थी। कम से कम हिंसा ही श्रामण्य-जीवन की श्रेष्ठता का प्रतिमान था। सूत्रकृतांग में आर्द्रक कुमार की विभिन्न मतों के श्रमणों से जो चर्चा है उसमें मूल प्रश्न यही है कि कौन सबसे अधिक अहिंसक है (देखिये सूत्रकृतांग, २।६)। त्रस प्राणियों (पशु, पक्षी, कीट-पतंग आदि) की हिंसा तो हिंसा थी ही, किन्तु वानस्पतिक और सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा को भी हिंसा माना जाने लगा था। मात्र इतना ही नहीं, मनसा, वाचा, कर्मणा, और कृत, कारित और अनुमोदित के प्रकारभेदों से नवकोटिक अहिंसा का विचार प्रविष्ट हुआ, अर्थात् मन, वचन और शरीर से हिंसा करना नहीं, करवाना नहीं और करनेवाले का अनुमोदन भी नहीं करना। बौद्ध और आजीवक परम्परा के श्रमणों ने भी इस नवकोटिक अहिंसा के आदर्श को स्वीकार कर उसके अर्थ को गहनता और व्यापकता प्रदान की। फिर भी बौद्ध परम्परा में षट्जीवनिकाय का विचार उपस्थित नहीं था। बौद्ध भिक्षु नदी-नालों के जल को छानकर उपयोग करते थे। दूसरे उनके यहाँ नवकोटि अहिंसा की यह अवधारणा भी स्वयं की अपेक्षा से थी—दूसरा हमारे निमित्त क्या करता है इसका विचार नहीं किया गया, जब कि जैन परम्परा में श्रमण के निमित्त से की जाने वाली हिंसा का भी विचार किया गया। निर्ग्रन्थ परम्परा का कहना था कि केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि हम मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसा न करें, न करावें और न उसे अनुमोदन दें अपितु यह भी आवश्यक है कि दूसरों को हमारे निमित्त हिंसा करने का अवसर भी नहीं देवें और उनके द्वारा की गई हिंसा में भागीदार न बनें। यही कारण था कि जहाँ बुद्ध और बौद्ध भिक्षु निमन्त्रित भोजन को स्वीकार करते थे वहाँ निर्ग्रन्थ परम्परा में औद्देशिक आहार भी अग्राह्य माना गया था, क्योंकि उसमें नैमित्तिक हिंसा के दोष की सम्भावना थी। यद्यपि पिटकग्रन्थों में बौद्ध भिक्षु के लिए ऐसा भोजन निषिद्ध माना गया है जिसमें उसके लिए प्राणीहिंसा की गयी हो और वह इस बात को जानता हो या उसने ऐसा सुना हो। फिर भी यह अतिशयोक्ति नहीं है कि अहिंसा को जितना व्यापक अर्थ जैन परम्परा में दिया गया है, उतना अन्यत्र अनुपलब्ध ही है।

जैन और बौद्ध परम्पराओं में अहिंसा सम्बन्धी जो खण्डन-मण्डन हुआ, उसके पीछे सैद्धान्तिक मतभेद न होकर उसकी व्यावहारिकता का प्रश्न ही प्रमुख रहा है। पं० सुखलालजी लिखते हैं, दोनों की अहिंसा सम्बन्धी व्याख्या में कोई तात्त्विक मतभेद नहीं—जैन परम्परा ने नवकोटिक अहिंसा की सूक्ष्म व्यवस्था को अमल में लाने के लिए जो बाह्य प्रवृत्ति को विशेष नियन्त्रित किया, वह बौद्ध परम्परा ने नहीं किया। जीवन सम्बन्धी बाह्य प्रवृत्तियों के अति नियन्त्रण और मध्यवर्गीय शैथिल्य के प्रबल भेद में से ही बौद्ध और जैन परम्पराएँ आपस में खण्डन-मण्डन में प्रवृत्त हुईं। जब हम दोनों परम्पराओं के खण्डन-मण्डन को तटस्थ भाव से देखते हैं तब निःसंकोच कहना पड़ता है कि बहुधा दोनों ने एक-दूसरे को गलत रूप से ही समझा है। इसका एक

उदाहरण मज्झिमनिकाय का उपालिसुत्त और दूसरा सूत्रकृतांग का है।[1]

यद्यपि जैन परम्परा ने नवकोटिपूर्ण अहिंसा के पालन पर बल दिया, लेकिन नव-कोटिक अहिंसा के पालन में जब साधु-जीवन के व्यवहारों का सम्पादन एवं संयमी जीवन का रक्षण भी असम्भव प्रतीत हुआ तो यह स्वीकार किया गया कि शास्त्रविहित प्रवृत्तियों में हिंसा-दोष का अभाव होता है। इसी प्रकार मन्दिर-निर्माण, प्रतिमापूजन, तीर्थयात्रा आदि के प्रसंग पर होनेवाली हिंसा विहित मान ली गयी। परिणाम यह हुआ कि वैदिक हिंसा हिंसा नहीं है, इस सिद्धान्त के प्रति की गयी उनकी आलोचना स्वयं निर्बल रह गयी। वैदिक पक्ष की ओर से कहा जाने लगा कि यदि तुम कहते हो कि शास्त्रविहित हिंसा हिंसा नहीं है तो फिर हमारी आलोचना कैसे कर सकते हो?[2] इस प्रकार आलोचनाओं और प्रत्यालोचनाओं का एक विशाल साहित्य निर्मित हो गया, जिसका समुचित मूल्यांकन यहाँ सम्भव नहीं है। फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि इस समग्र वाद-विवाद में जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में मौलिक रूप से सैद्धान्तिक मतभेद अल्प ही हैं। प्रमुख प्रश्न व्यवहार का है। व्यावहारिक दृष्टि से जैन और वैदिक परम्पराओं में निम्न अन्तर खोजा जा सकता है—

(१) जैन परम्परा पूर्ण अहिंसा के पालन सम्बन्धी विचार को केवल उन्हीं स्थितियों में शिथिल करती है जिनमें मात्र संयममूलक मुनि-जीवन का अनुरक्षण हो सके, जबकि वैदिक परम्परा में अहिंसा के पालन में उन सभी स्थितियों में शिथिलता की गयी है जिनमें सभी आश्रम और सभी प्रकार के लोगों के जीवन जीने और अपने कर्तव्यों के पालन का अनुरक्षण हो सके।

(२) यद्यपि जैन आचार्यों ने संयममूलक जीवन के अनुरक्षण के लिए की गयी हिंसा को हिंसा नहीं माना है, तथापि परम्परा के आग्रही अनेक जैन आचार्यों ने उस हिंसा को हिंसा के रूप में स्वीकार करते हुए केवल अपवाद रूप में उसका सेवन करने की छूट दी और उसके प्रायश्चित्त का विधान भी किया। उनकी दृष्टि में हिंसा, चाहे वह किसी भी स्थिति में हो, हिंसा है। यही कारण है कि आज भी जैन सम्प्रदायों में संयम एवं शरीर-रक्षण के निमित्त भिक्षाचर्या आदि दैनिक व्यवहार में होनेवाली सूक्ष्म हिंसा के लिए भी प्रायश्चित्त का विधान है।

(३) वैदिक परम्परा में हिंसा धार्मिक अनुष्ठानों का एक अंग मान ली गयी और उनमें होनेवाली हिंसा हिंसा नहीं मानी गयी। यद्यपि जैन-परम्परा में कुछ आचार्यों ने धार्मिक अनुष्ठानों, मन्दिर-निर्माण आदि कार्यों में होनेवाली हिंसा का समर्थन अल्प-हिंसा और बहु-निर्जरा के नाम पर किया, लेकिन जैन-परम्परा में सदैव ही ऐसी मान्यता का

१. दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृ० ४१५.
२. अभिधान राजेन्द्रकोश, खण्ड ७, पृ० १२२९.

विरोध किया जाता रहा और जिसकी तीव्र प्रतिक्रियाओं के रूप में दिगम्बर सम्प्रदाय में तेरापंथ और तारणपंथ तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय में लोकागच्छ, स्थानकवासी एवं तेरापंथ (श्वेताम्बर आम्नाय) आदि अवान्तर सम्प्रदायों का जन्म हुआ, जिन्होंने धर्म के नाम पर होनेवाली हिंसा का तीव्र विरोध किया।

(४) वैदिक परम्परा में जिस धार्मिक हिंसा को हिंसा नहीं माना गया उसका बहुत कुछ सम्बन्ध पशुओं की हिंसा से है, जबकि जैन-परम्परा में मन्दिर-निर्माण आदि के निमित्त से भी जिस हिंसा का समर्थन किया गया, उसका सम्बन्ध मात्र एकेन्द्रिय अथवा स्थावर जीवों से है।

(५) जैन परम्परा में हिंसा के किसी भी रूप को अपवाद मानकर ही स्वीकार किया गया, जबकि वैदिक परम्परा में हिंसा आचरण का नियम ही बन गयी। जीवन के सामान्य कर्तव्यों जैसे यज्ञ, श्राद्ध, देव, गुरु, अतिथि पूजन आदि के निमित्त से भी हिंसा का विधान किया गया है। यद्यपि परवर्ती वैष्णव सम्प्रदायों ने इसका विरोध किया।

(६) प्राचीन जैन मूल आगमों में संयमी जीवन के अनुरक्षण के लिए ही मात्र अत्यल्प स्थावर हिंसा का समर्थन अपवाद रूप में उपलब्ध है। जबकि वैदिक परम्परा में हिंसा का समर्थन सांसारिक जीवन की पूर्ति तक के लिए किया गया है। जैन-परम्परा भिक्षु के जीवन-निर्वाह की दृष्टि से अपवादों का विचार करती है, जब कि वैदिक परम्परा सामान्य गृहस्थ के जीवन के निर्वाह की दृष्टि से भी अपवाद का विचार करती है।

अहिंसा का विधायक रूप—जैन धर्म निवृत्तानुलक्षी होने से उसमें अहिंसा का निषेधात्मक स्वरूप ही अधिक मिलता है। श्वेताम्बर तेरापंथी जैन समाज तो केवल अहिंसा के निषेध रूप को ही मानता है। अहिंसा के विधायक पक्ष में उसकी आस्था नहीं है। पूर्वकाल के जैन सन्त अहिंसा के इस निषेध पक्ष को ही अधिक प्रस्तुत करते थे, इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता। फिर भी जैन सूत्रों में अहिंसा का विधायक पक्ष मिलता है।

अहिंसा का विधायक पक्ष प्राणियों के हित-साधन में ही निहित है। जैन धर्म की अहिंसा इस रूप में विधायक है। आचारांगसूत्र में तीर्थस्थापना का उद्देश्य समस्त जगत् के प्राणियों का कल्याण बताया गया है।[1] इस प्रकार अहिंसा में जीवों के कल्याण-साधन का तथ्य निहित है, जो विधायक अहिंसा का मूल है। इतना ही नहीं, आचारांग-सूत्र में कहा गया है कि समस्त तीर्थंकरों ने 'अहिंसा-धर्म' का प्रवर्तन समस्त लोक के खेद को जानकर ही किया है।[2] 'खेयन्नेहिं' शब्द के मूल में अहिंसा का विधायक रूप

१. आचारांग, २।१५।६५८. २. वही, १।४।१।२७.

स्पष्ट बोल रहा है। इसमें अहिंसा का उद्देश्य मनुष्य का अपना कल्याण न होकर लोक-कल्याण ही स्पष्ट होता है। इतना ही नहीं, तीर्थंकर अरिष्टनेमि का विवाहप्रसंग तथा शान्तिनाथ के पूर्व-भव में कबूतर की रक्षा का प्रसंग, ऐसे अनेक प्रसंग जैन कथा-साहित्य में हैं जिनमें अहिंसा का विधायक स्वरूप स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जैन-संघों द्वारा संचालित औषधालय, गोशालाएँ पांजरापोल (पशु-रक्षा गृह) आदि संस्थाएँ भी इस बात के प्रमाण हैं कि जैन-विचारक अहिंसा के विधायक पक्ष को भूले नहीं हैं। पुण्य के नौ भेदों में अन्नदान, वस्त्रदान, स्थान (आश्रय) दान आदि इसी विधायक पक्ष की पुष्टि करते हैं। विधायक पक्ष का एक और प्रमाण जैन तीर्थंकरों की गृहस्थावस्था में मिलता है। सभी तीर्थंकर संन्यास लेने के पूर्व एक वर्ष तक प्रतिदिन स्वर्ण-मुद्राएँ याचकों को दान करते हैं।[1] इस प्रकार जैन धर्म अहिंसा के दोनों पक्ष स्वीकार करता है।

बौद्ध एवं वैदिक परम्परा में अहिंसा का विधायक पक्ष

यह निस्सन्देह सत्य है कि बौद्ध और वैदिक परम्पराओं ने अहिंसा को अधिक विधायक स्वरूप प्रदान किया। साधना के साथ सेवा का समन्वय करने में भारतीय धर्मों में बौद्ध धर्म और विशेष रूप से उनकी महायान शाखा अग्रणी रही है। यद्यपि जैन धर्म मे भी ग्लान, वृद्ध, रोगी, शैक्ष आदि की सेवा का निर्देश है, मात्र यही नहीं मुनियों की सेवा को गृहस्थ धर्म का अनिवार्य अंग मान लिया गया है फिर भी मानवता के लिए सेवा और करुणा का जो विस्फोट जैन धर्म में होना चाहिए था वह न हो सका। अहिंसा और अनासक्ति की जो सूक्ष्म व्याख्याएँ की गईं, वे ही इस मार्ग में सबसे बाधक बन गईं। असंयती की सेवा को और रागात्मक सेवा को अनैतिक माना गया। यही कारण था कि जहाँ हम बौद्ध भिक्षुओं और ईसाई पादरियों को सेवा के प्रति जितना तत्पर पाते हैं, उतना जैन भिक्षु संघ को नहीं। जैन भिक्षु अपने सहवर्गी के अतिरिक्त अन्य की सेवा नहीं कर सकता। जबकि बौद्ध भिक्षु प्राचीन काल से ही पीड़ित एवं दुःखित वर्ग की सेवा करता रहा है।

हिन्दू परम्परा में सेवा, अतिथिसत्कार, देवऋण, पितृऋण, गुरुऋण तथा लोकसंग्रह की अवधारणाएँ अहिंसा के विधायक पक्ष को स्पष्ट कर देती हैं। तुलनात्मक दृष्टि से हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होना चाहिए कि सैद्धान्तिक रूप में जैन मुनिवर्ग की अहिंसा निषेधात्मक अधिक रही। किन्तु जहाँ तक व्यावहारिक जीवन का प्रश्न है—जैन गृहस्थ समाज एवं लोकसेवा के कार्यों से किसी भी युग में पीछे नहीं रहा है। आज भी भारत में जैन समाज द्वारा जितनी लोक कल्याणकारी प्रवृतियाँ चल

१. आचारांग, द्वितीय श्रुतस्कंध, अ० १५।१७९ मूल एवं टीका.

रही हैं, वे आनुपातिक दृष्टि से किसी भी अन्य समाज से कम नहीं हैं। यही उसकी अहिंसा की विधायक दृष्टि का प्रमाण है।

हिंसा के अल्प-बहुत्व का विचार—हिंसा और अहिंसा का विचार हमारे सामने एक समस्या यह भी प्रस्तुत करता है कि किसी विशेष परिस्थिति में जब एक की रक्षा के लिए दूसरे की हिंसा अनिवार्य हो—अथवा दो अनिवार्य हिंसाओं में से एक का चयन आवश्यक हो, तो मनुष्य क्या करे ? इस प्रश्न को लेकर तेरापंथी जैन सम्प्रदाय का जैनों के दूसरे सम्प्रदायों से मतभेद है। उनका मानना है कि ऐसी स्थिति में मनुष्य को तटस्थ रहना चाहिए। दूसरे सम्प्रदाय ऐसी स्थिति में हिंसा के अल्प-बहुत्व का विचार करते हैं। मान लीजिए, एक आदमी प्यासा है, यदि उसे पानी नहीं पिलाया जाय तो उसका प्राणांत हो जायेगा; दूसरी ओर, उसे पानी पिलाने में पानी के जीवों (अपकाय-जीवों) की हिंसा होती है। इसी प्रकार, एक व्यक्ति के शरीर में कीड़े पड़ गये है, अब यदि डाक्टर उसे बचाता है तो कीड़ों की हिंसा होती है और कीड़ों को बचाता है तो आदमी की मृत्यु होती है। अथवा प्रसूति की अवस्था में माँ और शिशु में से किसी एक के जीवन की ही रक्षा की जा सकती हो तो ऐसी स्थितियों में क्या किया जाय ? अहिंसा का सिद्धान्त ऐसी स्थिति में क्या निर्देश करता है ?

पंडित सुखलालजी ने यह माना है कि वध्य जीवों का कद, उनकी संख्या तथा उनकी इन्द्रिय आदि के तारतम्य पर हिंसा के दोष का तारतम्य अवलम्बित नहीं है; किन्तु हिंसक के परिणाम या वृत्ति की तीव्रता-मंदता, ज्ञानता-अज्ञानता या बलप्रयोग की न्यूनाधिकता पर अवलंबित है।[1] यद्यपि हिंसा के दोष की तीव्रता या मंदता हिंसक की मानसिक वृत्ति पर निर्भर है, तथापि इस आधार पर इन प्रश्नों का ठीक समाधान नहीं मिलता। इन प्रश्नों के हल के लिए हमें हिंसा के अल्प-बहुत्व का कोई बाह्य आधार ढूंढना होगा।

जैन परम्परा में परम्परागत रूप से यह विचार स्वीकृत रहा है कि ऐसी स्थितियों में हमें प्राण-शक्तियों या इन्द्रियों की संख्या एवं आध्यात्मिक विकास के आधार पर ही हिंसा के अल्प-बहुत्व का निर्णय करना चाहिए। इस सारी विवक्षा में जीवों की संख्या को सदैव ही गौण माना गया है। महत्त्व जीवों की संख्या का नहीं, उनकी ऐन्द्रिक एवं आध्यात्मिक विकास-क्षमता का है। सूत्रकृतांग में हस्तितापसों का वर्णन है, जो एक हाथी की हत्या करके उसके मांस से एक वर्ष तक निर्वाह करते थे। उनका दृष्टिकोण यह था कि अनेक स्थावर जीवों की हिंसा की अपेक्षा एक त्रस जीव की हिंसा से निर्वाह कर लेना अल्प पाप है, लेकिन जैन विचारकों ने इस धारणा को अनुचित ही माना।[2]

भगवतीसूत्र में स्पष्ट ही कहा गया है कि यद्यपि सभी जीवों में आत्माएँ समान

---

१. दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृ० ६०. २. सूत्रकृतांग, २।६।५३-५४.

हैं,[1] तथापि प्राणियों की ऐन्द्रिक क्षमता एवं आध्यात्मिक विकास के आधार पर हिंसा-दोष की तीव्रता आधारित होती है। एक त्रस जीव की हिंसा करता हुआ मनुष्य तत्सम्बन्धित अनेक जीवों की हिंसा करता है।[2] एक अहिंसक ऋषि की हत्या करने वाला एक प्रकार से अनन्त जीवों की हिंसा करने वाला होता है।[3] इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि स्थावर जीवों की अपेक्षा त्रस जीवों की और त्रस जीवों में पंचेन्द्रिय की, पंचेन्द्रियों में भी मनुष्य की और मनुष्यों में भी ऋषि की हिंसा अधिक निकृष्ट है। इतना ही नहीं, त्रस जीव की हिंसा करनेवाले को अनेक जीवों की हिंसा का और ऋषि की हिंसा करनेवाले को अनन्त जीवों की हिंसा का करनेवाला बता कर शास्त्रकार ने यह स्पष्ट निर्देश किया है कि हिंसा-अहिंसा के विचार में संख्या का प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है प्राणी की ऐन्द्रिक एवं आध्यात्मिक विकास क्षमता।

जब अपरिहार्य बन गई दो हिंसाओं में किसी एक को चुनना अनिवार्य हो तो हमें अल्प-हिंसा को चुनना होगा। किन्तु कौन-सी हिंसा अल्प-हिंसा होगी यह निर्णय देश, काल, परिस्थिति आदि अनेक बातों पर निर्भर करेगा। यहाँ हमें जीवन की मूल्यवत्ता को भी आँकना होगा। जीवन की यह मूल्यवत्ता दो बातों पर निर्भर करती है—(१) प्राणी का ऐन्द्रिक एवं आध्यात्मिक विकास और (२) उसकी सामाजिक उपयोगिता। सामान्यतया मनुष्य का जीवन अधिक मूल्यवान है और मनुष्यों में भी एक सन्त का, किन्तु किसी परिस्थिति में किसी मनुष्य की अपेक्षा किसी पशु का जीवन भी अधिक मूल्यवान हो सकता है। संभवतः हिंसा-अहिंसा के विवेक में जीवन की मूल्यवत्ता का यह विचार हमारी दृष्टि में उपेक्षित ही रहा, यही कारण था कि हम चींटियों के प्रति तो संवेदनशील बन सके किन्तु मनुष्य के प्रति निर्मम ही बने रहे। आज हमें अपनी संवेदनशीलता को मोड़ना है और मानवता के प्रति अहिंसा को सकारात्मक बनाना है। यह आवश्यक है कि हम अपरिहार्य हिंसा को हिंसा के रूप में समझते रहें, अन्यथा हमारा करुणा का स्रोत सूख जावेगा। विवशता में चाहे हमें हिंसा करनी पड़े, किन्तु उसके प्रति आत्मग्लानि और हिंसित के प्रति करुणा की धारा सूखने नहीं पावे, अन्यथा वह हिंसा हमारे स्वभाव का अंग बन जावेगी जैसे—कसाई बालक में। हिंसा-अहिंसा के विवेक का मुख्य आधार मात्र यही नहीं है कि हमारा हृदय कषाय से मुक्त हो, किन्तु यह भी है कि हमारी संवेदनशीलता जागृत रहे, हृदय में दया और करुणा की धारा प्रवाहित होती रहे। हमें अहिंसा को हृदय-शून्य नहीं बनाना है। क्योंकि यदि हमारी संवेदनशीलता जागृत बनी रही तो निश्चय ही हम जीवन में हिंसा

१. भगवतीसूत्र, ७।८।१०२. २. वही, ९।३४।१०६.
३. वही, ९।३४।१०७.

की मात्रा को अल्पतम करते हुए पूर्ण अहिंसा के आदर्श को उपलब्ध करेंगे, साथ ही वह हमारी अहिंसा विधायक बनकर मानव समाज में सेवा की गंगा भी बहा सकेगी।

अनाग्रह (वैचारिक सहिष्णुता)

जैन धर्म में अनाग्रह

जैन दर्शन के अनेकांतवाद का परिणाम सामाजिक नैतिकता के क्षेत्र में वैचारिक सहिष्णुता है। अनाग्रह का सिद्धान्त सामाजिक दृष्टि से वैचारिक अहिंसा है। अनाग्रह अपने विचारों की तरह दूसरे के विचारों का सम्मान करना सिखाता है। वह उस भ्रान्ति का निराकरण करता है कि सत्य मेरे ही पास है, दूसरे के पास नहीं हो सकता। वह हमें यह बताता है कि सत्य हमारे पास भी हो सकता है और दूसरे के पास भी। सत्य का बोध हमें ही हो सकता है, किन्तु दूसरों को सत्य का बोध नहीं हो सकता—यह कहने का हमें अधिकार नहीं है। सत्य का सूर्य न केवल हमारे घर को प्रकाशित करता है वरन् दूसरों के घरों को भी प्रकाशित करता है। वस्तुतः वह सर्वत्र प्रकाशित है। जो भी उन्मुक्त दृष्टि से उसे देख पाता है, वह उसे पा जाता है। सत्य केवल सत्य है, वह न मेरा है और न दूसरे का है। जिस प्रकार अहिंसा का सिद्धान्त कहता है कि जीवन जहाँ कहीं हो, उसका सम्मान करना चाहिए, उसी प्रकार अनाग्रह का सिद्धान्त कहता है कि सत्य जहाँ भी हो, उसका सम्मान करना चाहिए। जैनाचार्य हरिभद्र कहते हैं कि जो स्वार्थ वृत्ति से ऊपर उठ गया है, जो लोकहित में निरत है जो विश्व स्वरूप का ज्ञाता है और जिसका चरित्र निर्मल और अद्वितीय है, वह चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हरि हो, शंकर हो, मैं उसे प्रणाम करता हूँ। मुझे न जिन के वचनों का पक्षाग्रह है और न कपिल आदि के वचनों के प्रति द्वेष, युक्तिपूर्ण वचन जो भी हो, वह मुझे ग्राह्य है।[1]

वस्तुतः पक्षाग्रह की धारणा से विवाद का जन्म होता है। व्यक्ति जब स्व-मत की प्रशंसा और दूसरों की निन्दा करता है, तो परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन में संघर्ष का प्रादुर्भाव हो जाता है। वैचारिक आग्रह न केवल वैयक्तिक नैतिक विकास को कुण्ठित करता है, वरन् सामाजिक जीवन में विग्रह, विषाद और वैमनस्य के बीज बो देता है। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि जो अपने-अपने मत की प्रशंसा और दूसरे मत की निन्दा करने में ही अपना पाण्डित्य दिखाते हैं और लोक को सत्य से भटकाते हैं वे एकान्तवादी स्वयं संसारचक्र में भटकते रहते हैं।[2] वैचारिक आग्रह मतवाद या पक्ष को जन्म देता है

१. लोकतत्त्व निर्णय १।३७, ३८.

२. सयं सयं पसंसंता गरहंता परं वयं।
   जे उ तत्थ विउस्सन्ति संसारे ते विउस्सिया ।।—सूत्रकृतांग १।१।२।२३.

और उससे राग-द्वेष की वृद्धि होती है। आचारांगचूर्णि में कहा गया है कि प्रत्येक 'वाद' राग-द्वेष की वृद्धि करनेवाला है[1] और जब तक राग-द्वेष हैं, तब तक मुक्ति भी सम्भव नहीं। इसप्रकार जैनाचार्यों की दृष्टि में नैतिक पूर्णता को प्राप्त करने के लिए वैचारिक आग्रह का परित्याग कर जीवनदृष्टि को अनाग्रहमय बनाना आवश्यक माना गया है।

जैन दर्शन के अनुसार एकान्त और आग्रह मिथ्यात्व हैं क्योंकि वे सत्य के अनन्त पक्षों का अपलाप करते हैं। जैन तत्त्वज्ञान में प्रत्येक सत्ता अनन्त गुणों का समूह मानी गयी है—अनन्तधर्मात्मकं वस्तुः। एकान्त उसमें से एक का ही ग्रहण करता है। इतना ही नहीं, वह एक के ग्रहण के साथ अन्य का निषेध भी करता है, उसकी भाषा में सत्य 'इतना' ही है, मात्र यही सत्य है। इस प्रकार एक ओर वह अनन्त सत्य के अनेकानेक पक्षों का अपलाप करता है। दूसरी ओर वह मनुष्य के ज्ञान को कुण्ठित एवं सीमित करता है। आग्रह की उपस्थिति में अनन्त सत्य को जानने की जिज्ञासा ही नहीं होती, तो फिर सत्य या परमार्थ का साक्षात्कार तो बहुत दूर की बात है। यदि कुएँ का मेंढक कुएँ को ही समुद्र समझने लग जाय तो न तो कोई उसे उसके मिथ्याज्ञान से उबार सकता है और न उसे अथाह जलराशि का दर्शन करा सकता है। यही स्थिति एकान्त या आग्रह-बुद्धि की है जिसमें न तो तत्त्व का यथार्थज्ञान होता है और न तत्त्व-साक्षात्कार ही होता है।

जैन विचारधारा के अनुसार मिथ्याज्ञान किसी असत् या अनस्तित्ववान् तत्त्व का ज्ञान नहीं है, क्योंकि जो असत् है, मिथ्या है, उसका ज्ञान कैसे होगा? जैन दर्शन के अनुसार सारा ज्ञान सत्य है, शर्त यही है कि उसमें एकान्तवादिता या आग्रह न हो। एकान्त सत्य के अनन्त पहलुओं को आवृत्त कर अंश को ही पूर्ण के रूप में प्रकट करता है और इस प्रकार अंश को पूर्ण बताकर व्यक्ति के ज्ञान को मिथ्या बना देता है। साथ ही आग्रह अपने में निहित छद्म राग से सत्य को रंगीन कर देता है। इस प्रकार एकान्त या आग्रह तत्त्व-साक्षात्कार या आत्म-साक्षात्कार में बाधक है। जैन दर्शन के अनुसार तत्त्व, परमार्थ या आत्मा पक्षातिक्रान्त है, अतः पक्ष या आग्रह के माध्यम से उसे नहीं पाया जा सकता। वह तो परमसत्य है, आग्रहबुद्धि उसे नहीं देख सकती। विचार या दृष्टि जब तक पक्ष, मत या वादों से अनावरित नहीं होती, सत्य भी उसके लिए अनावृत नहीं होता। जब तक आँखों पर राग-द्वेष, आसक्ति या आग्रह का रंगीन चश्मा है, अनावृत सत्य का साक्षात्कार सम्भव नहीं।

दूसरे, आग्रह स्वयं एक बन्धन है। वह वैचारिक आसक्ति है। विचारों का परिग्रह है। आसक्ति या परिग्रह चाहे पदार्थों का हो या विचारों का, वह निश्चित ही बन्धन

---

१. आचारांगचूर्णि, १।७।१

है। आग्रह विचारों का बन्धन है और अनाग्रह वैचारिक मुक्ति। विचार में जब तक आग्रह है, तब तक पक्ष रहेगा। यदि पक्ष रहेगा, तो उसका प्रतिपक्ष भी होगा। पक्ष-प्रतिपक्ष, यही विचारों का संसार है, इसमें ही वैचारिक संघर्ष, साम्प्रदायिकता और वैचारिक मनोमालिन्य पनपते हैं। जैनाचार्यों ने कहा है कि वचन के जितने विकल्प हैं उतने ही नयवाद (दृष्टिकोण) हैं और जितने नयवाद, दृष्टिकोण या अभिव्यक्ति के ढंग हैं उतने ही मत-मतान्तर (पर-समय) हैं। व्यक्ति जब तक पर-समय (मत-मतान्तरों) में होता है तब तक स्व-समय (पक्षातिक्रान्त विशुद्ध आत्मतत्त्व) की प्राप्ति नहीं होती है। तात्पर्य यह है कि बिना आग्रह का परित्याग किये मुक्ति नहीं होती। मुक्ति पक्ष का आश्रय लेने में नहीं, वरन् पक्षातिक्रान्त अवस्था को प्राप्त करने में है। वस्तुतः जहाँ भी आग्रहबुद्धि होगी, विपक्ष मे निहित सत्य का दर्शन सम्भव नहीं होगा और जो विपक्ष में निहित सत्य नहीं देखेगा वह सम्पूर्ण सत्य का दृष्टा नहीं होगा।

भगवान् महावीर ने बताया कि आग्रह ही सत्य का बाधक तत्त्व है। आग्रह राग है और जहाँ राग है वहाँ सम्पूर्ण सत्य का दर्शन संभव नहीं। सम्पूर्ण सत्य का ज्ञान या केवलज्ञान केवल अनाग्रही को ही हो सकता है। भगवान् महावीर के प्रथम शिष्य एवं अन्तेवासी गौतम के जीवन की घटना इसकी प्रत्यक्ष साक्ष्य है। गौतम को महावीर के जीवनकाल मे कैवल्य की उपलब्धि नहीं हो सकी। गौतम के केवलज्ञान में आखिर कौन सा तथ्य बाधक बन रहा था? महावीर ने स्वयं इसका समाधान दिया था। उन्होंने गौतम से कहा था, "गौतम! तेरा मेरे प्रति जो ममत्व है, रागात्मकता है, वही तेरे केवलज्ञान (पूर्णज्ञान) का बाधक है।" महावीर की स्पष्ट घोषणा थी कि सत्य का सम्पूर्ण दर्शन आग्रह के घेरे में खड़े होकर नहीं किया जा सकता। सत्य तो सर्वत्र उपस्थित है केवल हमारी आग्रहयुक्त या मतांधदृष्टि उसे देख नहीं पाती है और यदि देखती है तो उसे अपने दृष्टिराग से दूषित करके ही। आग्रह या दृष्टिराग से वही सत्य असत्य बन जाता है। अनाग्रह या समदृष्टित्व से वही सत्य के रूप में प्रकट हो जाता है। अतः महावीर ने कहा, यदि सत्य को पाना है तो अनाग्रहों या मतावादों के घेरे से ऊपर उठो, दोषदर्शन की दृष्टि को छोड़कर सत्यान्वेषी बनो। सत्य कभी मेरा या पराया नहीं होता है। सत्य तो स्वयं भगवान् है (सच्चं खलु भगवं)। वह तो सर्वत्र है। दूसरों के सत्यों को झुठलाकर हम सत्य को नहीं पा सकते हैं। सत्य विवाद से नहीं, समन्वय से प्रकट होता है।

सत्य का दर्शन केवल अनाग्रही को ही हो सकता है। जैन धर्म के अनुसार सत्य का प्रकटन आग्रह में नहीं, अनाग्रह मे होता है। सत्य का साधक वीतराग और अनाग्रही होता है। जैन धर्म अपने अनेकान्त के सिद्धान्त के द्वारा एक अनाग्रही एवं समन्वयात्मक दृष्टि प्रस्तुत करता है, ताकि वैचारिक असहिष्णुता को समाप्त किया जा सके।

बौद्ध आचार-दर्शन में वैचारिक अनाग्रह

बौद्ध आचारदर्शन में मध्यम मार्ग की धारणा अनेकान्तवाद की विचारसरणी का ही एक रूप है। इसी मध्यम मार्ग से वैचारिक क्षेत्र में अनाग्रह की धारणा का विकास हुआ है। बौद्ध विचारकों ने भी सत्य को अनेक पहलुओं से युक्त देखा और यह माना कि सत्य को अनेक पहलुओं के साथ देखना ही विद्वता है। थेरगाथा में कहा गया है कि जो सत्य का एक ही पहलू देखता है, वह मूर्ख है।[1] पण्डित तो सत्य को सौ (अनेक) पहलुओं से देखता है। वैचारिक आग्रह और विवाद का जन्म एकांगी दृष्टिकोण से होता है, एकांगदर्शी ही आपस में झगड़ते हैं और विवाद में उलझते हैं।[2]

बौद्ध विचारधारा के अनुसार आग्रह, पक्ष या एकांगी दृष्टि राग के ही रूप हैं। जो इस प्रकार के दृष्टि-राग में रत होता है वह जगत् में कलह और विवाद का सृजन करता है और स्वयं भी आसक्ति के कारण बन्धन में पड़ा रहता है। इसके विपरीत जो मनुष्य दृष्टि, पक्ष या आग्रह से ऊपर उठ जाता है, वह न तो विवाद में पड़ता है और न बन्धन में। बुद्ध के निम्न शब्द बड़े मर्मस्पर्शी हैं, "जो अपनी दृष्टि से दृढ़ाग्रही हो दूसरे को मूर्ख बताता है, दूसरे धर्म को मूर्ख और अशुद्ध बतानेवाला वह स्वयं कलह का आह्वान करता है। किसी धारणा पर स्थित हो, उसके द्वारा वह संसार में विवाद उत्पन्न करता है। जो सभी धारणाओं को त्याग देता है, वह मनुष्य संसार में कलह नहीं करता।[3]

मैं विवाद के दो फल बताता हूँ। एक, यह अपूर्ण या एकांगी होता है; दूसरे, वह विग्रह या अशान्ति का कारण होता है। निर्वाण को निर्विवाद भूमि समझनेवाले यह भी देखकर विवाद न करें। साधारण मनुष्यों की जो कुछ दृष्टियाँ हैं, पण्डित इन सब में नहीं पड़ता। दृष्टि और श्रुति को ग्रहण न करनेवाला, आसक्तिरहित वह क्या ग्रहण करे। (लोग) अपने धर्म को परिपूर्ण बताते हैं और दूसरे के धर्म को हीन बताते हैं। इस प्रकार भिन्न मत वाले ही विवाद करते हैं और अपनी धारणा को सत्य बताते हैं। यदि कोई दूसरे की अवज्ञा (निन्दा) से हीन हो जाय तो धर्मों में श्रेष्ठ नहीं होता। जो किसी वाद में आसक्त है, वह शुद्धि को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह किसी दृष्टि को मानता है। विवेकी ब्राह्मण तृष्णा-दृष्टि में नहीं पड़ता। वह तृष्णा-दृष्टि का अनुसरण नहीं करता। मुनि इस संसार में ग्रन्थियों को छोड़कर वादियों में पक्षपाती नहीं होता। अशान्तों में शान्त वह जिसे अन्य लोग ग्रहण करते हैं उसकी उपेक्षा करता है। वाद में अनासक्त, दृष्टियों से पूर्ण रूप से मुक्त वह धीर संसार में लिप्त नहीं होता। जो कुछ दृष्टि, श्रुति या विचार हैं, उन सब पर वह विजयी है। पूर्ण रूप से मुक्त, मार-त्यक्त

१. थेरगाथा, १।१०६. २. उदान, ६।४.
३. सुत्तनिपात, ५०।१६-१७.

वह संस्कार, उपरति तथा तृष्णा-रहित है।[1]"

इतना ही नहीं, बुद्ध सदाचरण और आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में इस प्रकार के वाद-विवाद या वाग्विलास या आग्रह-वृत्ति को अनुपयुक्त समझते हैं। उनकी दृष्टि में यह पक्षाग्रह या वाद-विवाद निर्वाण-मार्ग के पथिक का कार्य नहीं है। यह तो मल्लविद्या है—राजभोजन से पुष्ट पहलवान की तरह (प्रतिवादी के लिए) ललकारने वाले वादी को उस जैसे वादी के पास भेजना चाहिए क्योंकि मुक्त पुरुषों के पास विवादरूपी युद्ध के लिए कोई कारण ही शेष नहीं रहा। जो किसी दृष्टि को ग्रहण कर विवाद करते हैं और अपने मत को ही सत्य बताते हैं उनसे कहना चाहिए कि विवाद उत्पन्न होने पर तुम्हारे साथ बहस करने का यहाँ कोई नहीं है।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध दर्शन वैचारिक अनाग्रह पर जैन दर्शन के समान ही जोर देता है बुद्ध ने भी महावीर के समान ही दृष्टिराग को अनुपयुक्त माना है और बताया कि सत्य का सम्पूर्ण प्रकटन वहीं होता है, जहाँ सारी दृष्टियां शून्य हो जाती हैं। यह भी एक विचित्र संयोग है कि महावीर के अन्तेवासी इन्द्रभूति के समान ही बुद्ध के अन्तेवासी आनन्द का भी बुद्ध के जीवन काल में अर्हत् पद प्राप्त नहीं हो सका। सम्भवतः यहाँ भी यही मानना होगा कि शास्त्र के प्रति आनन्द का जो दृष्टिराग था, वही उसके अर्हत् होने में बाधा था। इस सम्बन्ध में दोनों धर्मों के निष्कर्ष समान प्रतीत होते हैं।

गीता में अनाग्रह

वैदिक परम्परा में भी अनाग्रह का समुचित महत्त्व और स्थान है। गीता के अनुसार आग्रह की वृत्ति आसुरी वृत्ति है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि आसुरी स्वभाव के लोग दम्भ, मान और मद से युक्त होकर किसी प्रकार भी पूर्ण न होने वाली कामनाओं का आश्रय ले अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके भ्रष्ट आचरणों से युक्त हो संसार में प्रवृत्ति करते रहते हैं।[3] इतना ही नहीं, आग्रह का प्रत्यय तप, ज्ञान और धारणा सभी को विकृत कर देता है। गीता में आग्रहयुक्त तप को तामस तप और आग्रहयुक्त धारणा को तामस धारणा कहा है।[4] आचार्य शंकर तो जैन परम्परा के समान वैचारिक आग्रह को मुक्ति में बाधक मानते हैं। विवेकचूडामणि में वे कहते हैं कि विद्वानों की वाणी की कुशलता, शब्दों की धारावाहिता, शास्त्र-व्याख्यान की पटुता और विद्वत्ता यह सब भोग का ही कारण हो सकते हैं, मोक्ष का नहीं।[5] शब्दजाल चित्त को भटकाने वाला एक महान् वन है। वह चित्तभ्रान्ति का ही कारण है।[6] आचार्य विभिन्न मत-मतान्तरों से युक्त शास्त्राध्ययन को भी निरर्थक मानते हैं। वे कहते हैं कि यदि परमतत्त्व का अनुभव नहीं किया तो शास्त्राध्ययन निष्फल है और यदि परमतत्त्व का ज्ञान हो गया तो शास्त्राध्ययन अनावश्यक

---

१. सुत्तनिपात, ५१।२, ३, १०, ११, १६-२०.
२. वही, ४६।८-९.
३. गीता, १६-१०.
४. वही, १७।१९, १८।३५.
५ विवेकचूडामणि, ६०.
६. वही, ६२.

है ।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शंकर की दृष्टि में वैचारिक आग्रह या दार्शनिक मान्यताएँ आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से अधिक मूल्य नहीं रखती। वैदिक नीति-वेत्ता शुक्राचार्य आग्रह को अनुचित और मूर्खता का कारण मानते हुए कहते हैं कि अत्यन्त आग्रह नहीं करना चाहिए क्योंकि अति सब जगह नाश का कारण है । अत्यन्त दान से दरिद्रता, अत्यन्त लोभ से तिरस्कार और अत्यन्त आग्रह से मनुष्य की मूर्खता परिलक्षित होती है ।[2] वर्तमान युग में महात्मा गांधी ने भी वैचारिक आग्रह को अनैतिक माना और सर्वधर्म समभाव के रूप में वैचारिक अनाग्रह पर जोर दिया। वस्तुतः आग्रह सत्य का होना चाहिए, विचारों का नहीं । सत्य का आग्रह तभी हो सकता है जब हम अपने वैचारिक आग्रहों से ऊपर उठें । महात्माजी ने सत्य के आग्रह को तो स्वीकार किया, लेकिन वैचारिक आग्रहों को कभी स्वीकार नहीं किया । उनका सर्वधर्म समभाव का सिद्धान्त इसका ज्वलन्त प्रमाण है । इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं में अनाग्रह को सामाजिक जीवन की दृष्टि से सदैव महत्त्व दिया जाता रहा है, क्योंकि वैचारिक संघर्षों से समाज को बचाने का एकमात्र मार्ग अनाग्रह ही है ।

वैचारिक सहिष्णुता का आधार—अनाग्रह (अनेकान्त दृष्टि)

जिस प्रकार भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध के काल में वैचारिक संघर्प उपस्थित थे और प्रत्येक मतवादी अपने को सम्यक्‌दृष्टी और दूसरे को मिथ्यादृष्टी कह रहा था, उसी प्रकार वर्तमान युग में भी वैचारिक संघर्ष अपनी चरम सीमा पर है। सिद्धान्तों के नाम पर मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद की दीवारें खींची जा रही हैं । कहीं धर्म के नाम पर, तो कहीं राजनैतिक वाद के नाम पर एक दूसरे के विरुद्ध विषवमन किया जा रहा है । धार्मिक एवं राजनैतिक साम्प्रदायिकता जनता के मानस को उन्मादी बना रही है । प्रत्येक धर्मवाद या राजनैतिक वाद अपनी सत्यता का दावा कर रहा है और दूसरे को भ्रान्त बता रहा है । इस धार्मिक एवं राजनैतिक उन्माद एवं असहिष्णुता के कारण मानव मानव के रक्त का प्यासा बना हुआ है । आज प्रत्येक राष्ट्र का एवं विश्व का वातावरण तनावपूर्ण एवं विक्षुब्ध है । एक ओर प्रत्येक राष्ट्र की राजनैतिक पार्टियाँ या धार्मिक सम्प्रदाय उसके आन्तरिक वातावरण को विक्षुब्ध एवं जनता के पारस्परिक सम्बन्धों को तनावपूर्ण बनाये हुए हैं, तो दूसरी ओर राष्ट्र स्वयं भी अपने को किसी एक निष्ठा से सम्बन्धित कर गुट बना रहे हैं । और इस प्रकार विश्व के वातावरण को तनावपूर्ण एवं विक्षुब्ध बना रहे है । मात्र इतना ही नहीं यह वैचारिक असहिष्णुता, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन को विषाक्त बना रही है । पुरानी और नई पीढ़ी के वैचारिक विरोध के कारण आज समाज और परिवार का वातावरण भी अशान्त और कलहपूर्ण हो रहा है । वैचारिक आग्रह और मतान्धता के इस युग में एक

१. विवेकचूड़ामणि ६१. २. शुक्रनीति, ३।२११-२१३.

ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता है जो लोगों को आग्रह और मतान्धता से ऊपर उठने के लिए दिशा-निर्देश दे सके। भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर दो ऐसे महापुरुष हैं जिन्होंने इस वैचारिक असहिष्णुता की विध्वंसकारी शक्ति को समझा था और उससे बचने का निर्देश दिया था। वर्तमान में भी धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक जीवन में जो वैचारिक संघर्ष और तनाव उपस्थित हैं उनका सम्यक् समाधान इन्हीं महापुरुषों की विचार सरणी के द्वारा खोजा जा सकता है। आज हमें विचार करना होगा कि बुद्ध और महावीर की अनाग्रह दृष्टि के द्वारा किस प्रकार धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक सहिष्णुता को विकसित किया जा सकता है।

धार्मिक सहिष्णुता

सभी धर्म-साधना पद्धतियों का मुख्य लक्ष्य राग, आसक्ति, अहं एवं तृष्णा की समाप्ति रहा है। जैन धर्म की साधना का लक्ष्य वीतरागता है, तो बौद्ध धर्म का साधना-लक्ष्य वीततृष्ण होना माना गया है। वहीं वेदान्त में अहं और आसक्ति से ऊपर उठना ही मानव का साध्य बताया गया है। लेकिन क्या आग्रह वैचारिक राग, वैचारिक आसक्ति, वैचारिक तृष्णा अथवा वैचारिक अहं का ही रूप नहीं है? और जब तक वह उपस्थित है धार्मिक साधना के क्षेत्र में लक्ष्य की सिद्धि कैसे होगी? पुनः जिन साधना पद्धतियों में अहिंसा के आदर्श को स्वीकार किया गया उनके लिए आग्रह या एकान्त वैचारिक हिंसा का प्रतीक भी बन जाता है। एक ओर साधना के वैयक्तिक पहलू की दृष्टि में सदाग्रह वैचारिक आसक्ति या राग का ही रूप है तो दूसरी ओर साधना के सामाजिक पहलू की दृष्टि में वह वैचारिक हिंसा है। वैचारिक आसक्ति और वैचारिक हिंसा से मुक्ति के लिए धार्मिक क्षेत्र में अनाग्रह और अनेकान्त की साधना अपेक्षित है। वस्तुतः धर्म का आविर्भाव मानव जाति में शान्ति और असहयोग के विस्तार के लिए हुआ था। धर्म मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने के लिए था, लेकिन आज वही धर्म मनुष्य मनुष्य में विभेद की दीवारें खींच रहा है। धार्मिक मतान्धता में हिंसा, संघर्ष, छल, छद्म, अन्याय, अत्याचार क्या नहीं हो रहा है? क्या वस्तुतः इसका कारण धर्म हो सकता है? इसका उत्तर निश्चित रूप से 'हाँ' में नहीं दिया जा सकता। यथार्थ में 'धर्म' नहीं, किन्तु धर्म का आवरण डालकर मानव की महत्त्वाकांक्षा, उसका अहंकार, ही यह सब करवाता रहा है। यह धर्म का नकाब ओढ़े अधर्म है।

धर्म एक या अनेक—मूल प्रश्न यह है कि क्या धर्म अनेक हैं या हो सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर अनेकान्तिक शैली से यह होगा कि धर्म एक भी है और अनेक भी, साध्यात्मक धर्म या धर्मों का साध्य एक है जब कि साधनात्मक धर्म अनेक हैं। साध्य रूप में धर्मों की एकता और साधन रूप से अनेकता को ही यथार्थ दृष्टिकोण कहा जा सकता है। सभी धर्मों का साध्य है समत्व-लाभ (समाधि) अर्थात् आन्तरिक तथा बाह्य

शान्ति की स्थापना तथा उसके लिए विक्षोभ के जनक राग-द्वेष और अस्मिता (अहंकार) का निराकरण। लेकिन राग-द्वेष और अस्मिता के निराकरण के उपाय क्यों हों? यहीं विचारभेद प्रारम्भ होता है, लेकिन यह विचारभेद विरोध का आधार नही बन सकता। एक ही साध्य की ओर उन्मुख होने से परस्पर विरोधी नहीं कहे जा सकते। एक ही केन्द्र से योजित होने वाली परिधि से खिची हुई विभिन्न रेखाओं में पारस्परिक विरोध प्रतीत अवश्य होता है किन्तु वह यथार्थ में होता नहीं है। क्योंकि केन्द्र से संयुक्त प्रत्येक रेखा में एक-दूसरे को काटने की क्षमता नहीं होती है किन्तु जैसे ही वह केन्द्र का परित्याग करती है वह दूसरी रेखाओं को अवश्य ही काटती है। साध्य रूपी एकता में ही साधनरूपी धर्मों की अनेकता स्थित है। अतः यदि धर्मों का साध्य एक है तो उनमें विरोध कैसा? अनेकान्त या अनाग्रह धर्मों की साध्यपरक मूलभूत एकता और साधनपरक अनेकता को इंगित करता है।

विश्व के विभिन्न धर्माचार्यों ने अपने युग की तात्कालिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपने सिद्धान्तों एवं साधना के बाह्य नियमों का प्रतिपादन किया। देश-कालगत परिस्थितियों और साधक की साधना की क्षमता की विभिन्नता के कारण धर्म साधना के बाह्य रूपों में भिन्नताओं का आ जाना स्वाभाविक ही था और ऐसा हुआ भी। किन्तु मनुष्य की अपने धर्माचार्यों के प्रति ममता (रागात्मकता) और उसके मन में अपने व्याप्त आग्रह और अहंकार ने उसे अपने धर्म या साधना-पद्धति को ही एक मात्र एवं अन्तिम सत्य मानने को बाध्य किया। फलस्वरूप विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों और उनके बीच साम्प्रदायिक वैमनस्य का प्रारम्भ हुआ। मनुष्य-स्वभाव बड़ा विचित्र है। उसके अहं को जरा सी चोट लगते ही वह अपना अखाड़ा अलग बनाने को तैयार हो जाता है। यद्यपि वैयक्तिक अहं सम्प्रदायों के निर्माण का एक कारण अवश्य है लेकिन वही एकमात्र कारण नहीं है। बौद्धिक भिन्नता और देश-कालगत तथ्य भी इसके कारण रहे हैं और इसके अतिरिक्त पूर्वप्रचलित परम्पराओं में आई हुई विकृतियों के सशोधन के लिए भी सम्प्रदाय बने। धार्मिक सम्प्रदाय बनने के कारणों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है १. अनुचित कारण और २. उचित कारण। १. **अनुचित कारण**—(१) ईर्ष्या के कारण, (२) किसी व्यक्ति की प्रसिद्धि की लिप्सा के कारण, (३) पूर्वसम्प्रदाय मे अनबन के कारण; २. **उचित कारण**—(४) किसी आचार सम्बन्धी नियमोपनियम में भेद के कारण, (५) किसी विशेष सत्य को प्राप्त करने की दृष्टि से एवं (६) किसी साम्प्रदायिक परम्परा या क्रिया में द्रव्य, क्षेत्र एवं काल के अनुसार संशोधन या परिवर्तन करने की दृष्टि से। उपरोक्त कारणों मे अन्तिम तीन को छोड़कर शेष सभी कारणों से उत्पन्न सम्प्रदाय आग्रह, धार्मिक असहिष्णुता और साम्प्रदायिक कटुता को जन्म देते हैं।

विश्व इतिहास का अध्येता इसे भलीभाँति मानता है कि धार्मिक असहिष्णुता ने विश्व में जघन्य दुष्कृत्य कराये हैं। आश्चर्य तो यह है कि इस दमन, अत्याचार, नृशं-

सता और रक्तप्लावन को धर्म का बाना पहनाया गया। शान्ति-प्रदाता धर्म ही अशान्ति का कारण बना। आज के वैज्ञानिक युग मे धार्मिक अनास्था का एक मुख्य कारण यह भी है। यद्यपि विभिन्न मतों, पंथों और वादों मे बाह्य भिन्नता परिलक्षित होती है किन्तु यदि हमारी दृष्टि व्यापक और अनाग्रही हो तो इसमें भी एकता और समन्वय के सूत्र परिलक्षित हो सकते है।

अनेकान्त विचार-दृष्टि विभिन्न धर्म सम्प्रदायों की समाप्ति के द्वारा एकता का प्रयास नहीं करती है क्योंकि वैयक्तिक रुचिभेद एवं क्षमताभेद तथा देशकालगत भिन्नताओं के होते हुए विभिन्न धर्म एवं विचार सम्प्रदायों की उपस्थिति अपरिहार्य है। एक धर्म या एक सम्प्रदाय का नारा असंगत एवं अव्यावहारिक ही नही अपितु अशान्ति और संघर्ष का कारण भी है। अनेकान्त, विभिन्न धर्म सम्प्रदायों की समाप्ति का प्रयास नहीं होकर उन्हे एक व्यापक पूर्णता मे सुसंगत रूप से संयोजित करने का प्रयास हो सकता है। लेकिन इसके लिए प्राथमिक आवश्यकता है धार्मिक सहिष्णुता और सर्वधर्म समभाव की।

अनेकान्त के समर्थक जैनाचार्यो ने सदैव धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया है। आचार्य हरिभद्र की धार्मिक सहिष्णुता तो सर्वविदित ही है। अपने ग्रन्थ शास्त्रवार्ता समुच्चय मे उन्होंने बुद्ध के अनात्मवाद और न्यायदर्शन के ईश्वरकर्तृत्ववाद, वेदान्त के सर्वात्मवाद (ब्रह्मवाद) मे भी संगति दिखाने का प्रयास किया। उनकी समन्वयवादी दृष्टि का संकेत हम पूर्व में कर चुके हैं।

इसप्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने भी शिव-प्रतिमा को प्रणाम करते समय सर्वदेव-समभाव का परिचय देते हुए कहा था—

> भवबीजांकुर जनना, रागाद्याक्षयमुपागता यस्य।
> ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो, जिनो वा नमस्तस्मै।

संसार परिभ्रमण के कारण रागादि जिसके क्षय हो चुके है, उसे मैं प्रणाम करता हूँ चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो या जिन हो।

उपाध्याय यशोविजय जी लिखते है—

"सच्चा अनेकान्तवादी किसी दर्शन से द्वेष नहीं करता। वह सम्पूर्ण दृष्टिकोण (दर्शनों) को इस प्रकार वात्सल्य दृष्टि से देखता है जैसे कोई पिता अपने पुत्रों को। क्योंकि अनेकान्तवादी की न्यूनाधिक बुद्धि नहीं हो सकती। वास्तव में सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जाने का अधिकारी वही है जो स्याद्वाद का आलम्बन लेकर सम्पूर्ण दर्शनों मे समान भाव रखता है। माध्यस्थ भाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है, यही धर्मवाद है। माध्यस्थ भाव रहने पर शास्त्र के एक पद का ज्ञान भी सफल है, अन्यथा करोड़ों शास्त्रों का ज्ञान भी

वृथा है।"[1] एक सच्चा जैन सभी धर्मों एवं दर्शनों के प्रति सहिष्णु होता है। वह सभी में सत्य का दर्शन करता है। परमयोगी जैन सन्त आनन्दघनजी लिखते हैं—

> षट् दरसण जिन अंग भणीजे, न्याय षडंग जो साधे रे,
> नमि जिनवरना चरण उपासक, षटदर्शन आराधे रे।

राजनैतिक सहिष्णुता

आज का राजनैतिक जगत् भी वैचारिक संकुलता से परिपूर्ण है। पूँजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, फासिस्टवाद, नाजीवाद आदि अनेक राजनैतिक विचारधाराएँ तथा राजतन्त्र, प्रजातन्त्र, कुलतन्त्र, अधिनायकतन्त्र आदि अनेकानेक शासन प्रणालियाँ वर्तमान में प्रचलित हैं। मात्र इतना ही नहीं, उनमें से प्रत्येक एकदूसरे की समाप्ति के लिए प्रयत्नशील है। विश्व के राष्ट्र खेमों में बँटे हुए हैं और प्रत्येक खेमे का अग्रणी राष्ट्र अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने के हेतु दूसरे के विनाश में तत्पर है। मुख्य बात यह है कि आज का राजनैतिक संघर्ष आर्थिक हितों का संघर्ष न होकर वैचारिकता का संघर्ष है। आज अमेरिका और रूस अपनी वैचारिक प्रमुखता के प्रभाव-क्षेत्र को बढ़ाने के लिए ही प्रतिस्पर्धा में लगे हुए हैं। एकदूसरे को नामशेष करने की उनकी यह महत्त्वाकांक्षा कहीं मानव-जाति को ही नामशेष न कर दे।

आज के राजनैतिक जीवन में अनेकान्त के दो व्यावहारिक फलित—वैचारिक सहिष्णुता और समन्वय—अत्यन्त उपादेय हैं। मानव-जाति ने राजनैतिक जगत् में राजतन्त्र से प्रजातन्त्र तक की जो लम्बी यात्रा तय की है उसकी सार्थकता अनेकान्त दृष्टि को अपनाने में ही है। विरोधी पक्ष के द्वारा की जाने वाली आलोचना के प्रति सहिष्णु होकर, उसके द्वारा अपने दोषों को समझना और उन्हें दूर करने का प्रयास करना, आज के राजनैतिक जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है। विपक्ष की धारणाओं में भी सत्यता हो सकती है और सबल विरोधी दल की उपस्थिति से हमें अपने दोषों के निराकरण का अच्छा अवसर मिलता है—इस विचार-दृष्टि और सहिष्णु भावना में ही प्रजातन्त्र का भविष्य उज्ज्वल रह सकता है। राजनैतिक क्षेत्र में संसदीय प्रजातन्त्र (पार्लियामेन्टरी डेमोक्रेसी) वस्तुतः राजनैतिक अनेकान्तवाद है। इस परम्परा में बहुमत दल द्वारा गठित सरकार अल्पमत दल को अपने विचार प्रस्तुत करने का अधिकार मान्य करती है और यथासम्भव उससे लाभ भी उठाती है। दार्शनिक क्षेत्र में जहाँ भारत अनेकान्तवाद का सर्जक है, वहीं वह राजनैतिक क्षेत्र में संसदीय प्रजातन्त्र का समर्थक भी है। अतः आज अनेकान्त का व्यावहारिक क्षेत्र में उपयोग करने का दायित्व भारतीय राजनीतिज्ञों पर है।

१. अध्यात्मसार, ६९–७३. २. उत्तराध्ययनसूत्र, ३२।८.

सामाजिक एवं पारिवारिक सहिष्णुता

कौटुम्बिक क्षेत्र में इस पद्धति का उपयोग परस्पर कुटुम्बों में और कुटुम्ब के सदस्यों में संघर्ष को टालकर शान्तिपूर्ण वातावरण का निर्माण करेगा। सामान्यतया पारिवारिक जीवन में संघर्ष के दो केन्द्र होते हैं—पिता-पुत्र तथा सास-बहू। इन दोनों के विवादों में मूल कारण दोनों का दृष्टि-भेद है। पिता जिस परिवेश में पला है उन्हीं संस्कारों के आधार पर पुत्र का जीवन ढालना चाहता है। जिस मान्यता को स्वयं मानकर बैठा है, उन्हीं मान्यताओं को दूसरे से मनवाना चाहता है। पिता की दृष्टि अनुभवप्रधान होती है जबकि पुत्र की दृष्टि तर्कप्रधान। एक प्राचीन संस्कारों से ग्रस्त होता है तो दूसरा उन्हें समाप्त कर देना चाहता है। यही स्थिति सास-बहू में होती है। सास यह अपेक्षा करती है कि बहू ऐसा जीवन जिये जैसा उसने स्वयं बहू के रूप में जिया था, जबकि बहू अपने युग के अनुरूप और अपने मातृपक्ष के संस्कारों से प्रभावित जीवन जीना चाहती है। मात्र इतना ही नहीं, उसकी अपेक्षा यह भी होती है कि वह उतना ही स्वतन्त्र जीवन जीये जैसा वह अपने माता-पिता के पास जीती थी। इसके विपरीत श्वसुर पक्ष उससे एक अनुशासित जीवन की अपेक्षा करता है। यही सब विवाद के कारण बनते हैं। इसमें जब तक सहिष्णु दृष्टि और दूसरे की स्थिति को समझने का प्रयास नहीं किया जाता तब तक संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता। वस्तुतः इसके मूल में जो दृष्टि-भेद है उसे अनेकान्त पद्धति से सम्यक् प्रकार जाना जा सकता है।

वास्तविकता यह है कि हम जब दूसरे के सम्बन्ध में कोई विचार करें, कोई निर्णय लें तो हमें स्वयं अपने को उस स्थिति में खड़ा कर सोचना चाहिए। दूसरे की भूमिका में स्वयं को खड़ा करके ही उसे सम्यक् प्रकार से जाना जा सकता है। पिता पुत्र से जिस बात की अपेक्षा करता है, उसके पहले अपने को पुत्र की भूमिका में खड़ा कर विचार कर ले। अधिकारी कर्मचारी से जिस ढंग से काम लेना चाहता है उसके पहले स्वयं को उस स्थिति में खड़ा करे, फिर निर्णय ले। यही एक दृष्टि है जिसके द्वारा एक सहिष्णु मानस का निर्माण किया जा सकता है और मानव-जाति को वैचारिक संघर्षों से बचाया जा सकता है।

अनाग्रह की अवधारणा के फलित—सत् अनन्त पहलुओं से युक्त है तथा मानवीय ज्ञान के साधन सीमित एवं सापेक्ष है, अतः सामान्य व्यक्ति का ज्ञान सीमित (आंशिक) और सापेक्ष होता है। दूसरे आग्रह, जो वस्तुतः वैचारिक राग ही है, सत्य को रंगीन बना देता है। रागात्मिका बुद्धि भी सत्य को विकृत कर देती है। परिणामस्वरूप सामान्य व्यक्ति को जो भी ज्ञान होता है वह अपूर्ण तो होता ही है, अशुद्ध भी होता है। अतः सत्यान्वेषण एवं विचारशुद्धि की आवश्यक शर्तें निम्न हैं—

१. सम्पूर्ण सत्य का ज्ञान सामान्य मानव के लिए सम्भव नहीं है, सत्य के अनेक

पहलू हमारे लिए आवृत बने रहते हैं । अतः दूसरों के विचार एवं ज्ञान में भी सत्यता सम्भव है, यह बात स्वीकार करनी होगी ।

२. सत्यान्वेषण आग्रहबुद्धि के द्वारा सम्भव नहीं है । अनाग्रही दृष्टि ही सत्य को प्रदान कर सकती है ।

३. राग-द्वेषजन्य संस्कारों से ऊपर उठकर 'मेरा सो सच्चा' के स्थान पर 'सच्चा सो मेरा' यह दृष्टि रखना चाहिए । सत्य चाहे अपने पास हो या विरोधी के पास, उसे स्वीकार करने के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए ।

४. जब तक हम राग-द्वेष के संस्कारों से अपने को ऊपर नहीं उठा सकें और पूर्णता को नहीं प्राप्त कर सकें तब तक केवल सत्य के प्रति जिज्ञासा रखना चाहिए । सत्य अपना या पराया नहीं होता है ।

५. अपने विचार पक्ष के प्रति भी विपक्ष के समान तीव्र समालोचक दृष्टि रखना चाहिए ।

६. विपक्ष के सत्य को उसी के दृष्टिकोण के आधार पर समझने का प्रयास करना चाहिए ।

७. अनुभव या ज्ञान की वृद्धि के साथ यदि नये सत्यों का प्रकटन हो तथा पूर्व-ग्रहीत विचार असत्य प्रतीत हों तो आग्रहबुद्धि का त्याग कर नये विचारों को स्वीकार करना चाहिए और पुरानी मान्यताओं को तदनुरूप संशोधित करना चाहिए ।

८. विरोध की स्थिति में प्रज्ञापूर्वक समन्वय के सूत्र खोजने का प्रयास करना चाहिए ।

९. दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णु दृष्टिकोण रखना चाहिए, क्योंकि उनके विचारों में भी सत्यता की सम्भावना निहित है ।

अनासक्ति (अपरिग्रह)

अहिंसा और अनाग्रह के बाद जैन आचारदर्शन का तीसरा प्रमुख सिद्धान्त अनासक्ति है । अहिंसा, अनाग्रह और अनासक्ति इन तीन तत्त्वों के आधार पर ही जैन आचारदर्शन का भव्य महल खड़ा है । यही अनासक्ति सामाजिक नैतिकता के क्षेत्र में अपरिग्रह बन जाती है ।

जैन धर्म में अनासक्ति

जैन आचारदर्शन में जिन पाँच महाव्रतों का विवेचन है, उनमें से तीन महाव्रत अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह अनासक्ति के ही व्यावहारिक रूप हैं । व्यक्ति के अन्दर निहित आसक्ति दो रूपों में प्रकट होती है—१. संग्रह-भावना और २. भोग-भावना । संग्रह-भावना और भोग-भावना से प्रेरित होकर ही मनुष्य दूसरों के अधिकार की

वस्तुओं का अपहरण करता है। इस प्रकार आसक्ति बाह्यतः तीन रूपों में होती है— १. अपहरण (शोषण), २. भोग और ३. संग्रह। आसक्ति के तीन रूपों का निग्रह करने के लिए जैन आचारदर्शन में अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रतों का विधान है। संग्रह-वृत्ति का अपरिग्रह से, भोगवृत्ति का ब्रह्मचर्य से और अपहरणवृत्ति का अस्तेय महाव्रत से निग्रह होता है।

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार समग्र जागतिक दुःखों का मूल कारण तृष्णा है। कहा गया है—जिसकी तृष्णा समाप्त हो जाती है उसका मोह समाप्त हो जाता है और जिसका मोह मिट जाता है उसके दुःख भी समाप्त हो जाते है।[१] आसक्ति का ही दूसरा नाम लोभ है और लोभ समग्र सद्‌गुणों का विनाशक है।[२] जैन विचारणा के अनुसार तृष्णा एक ऐसी खाई है जो कभी भी पाटी नही जा सकती। दुष्पूर तृष्णा का कभी अन्त नहीं आता। उत्तराध्ययनसूत्र में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि यदि सोने और चाँदी के कैलाश पर्वत के समान असंख्य पर्वत भी खड़े कर दिये जायें तो भी यह दुष्पूर्य तृष्णा शान्त नही हो सकती, क्योंकि धन चाहे कितना भी हो, वह सीमित है और तृष्णा अनन्त (असीम) है, अतः सीमित साधनों से इस असीम तृष्णा की पूर्ति नहीं की जा सकती।[3] किन्तु जब तक तृष्णा शान्त नहीं होती, तब तक दुःखों से मुक्ति भी नहीं होती। सूत्रकृतांग के अनुसार मनुष्य जब तक किसी भी प्रकार की आसक्ति रखता है वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता।[४] यदि हम अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो जैन दार्शनिकों की दृष्टि में तृष्णा या आसक्ति दुःख का पर्यायवाची ही बन गयी है। यह तृष्णा या आसक्ति ही परिग्रह (संग्रहवृत्ति) का मूल है। आसक्ति ही परिग्रह है।[५] जैन आचार्यों ने जिस अपरिग्रह के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसके मूल में यही अनासक्ति-प्रधान दृष्टि कार्य कर रही है। यद्यपि आसक्ति एक मानसिक तथ्य है, मन की ही एक वृत्ति है, तथापि उसका प्रकटन बाह्य है और उसका सीधा सम्बन्ध बाह्य वस्तुओं से है। वह सामाजिक जीवन को दूषित करती है। अतः आसक्ति के प्रहाण के लिए व्यावहारिक रूप में परिग्रह का त्याग भी आवश्यक है।

परिग्रह या संग्रहवृत्ति सामाजिक हिंसा है। जैन आचार्यों की दृष्टि में समग्र परिग्रह हिंसा से प्रत्युत्पन्न है। क्योंकि बिना हिंसा (शोषण) के संग्रह असम्भव है। व्यक्ति संग्रह के द्वारा दूसरों के हितों का हनन करता है और इस रूप में संग्रह या परिग्रह हिंसा का ही एक रूप है। वह हिंसा या शोषण का जनक है। अनासक्ति को जीवन में उतारने के लिए जैन आचार्यों ने यह आवश्यक माना कि मनुष्य बाह्य-परिग्रह का भी त्याग

---

१. उत्तराध्ययन, ३२।८. २. दशवैकालिक, ८।३८.
३. उत्तराध्ययन, ९।४८. ४. सूत्रकृतांग, १।१।२.
५. दशवैकालिक, ६।२१.

करे। परिग्रह-त्याग अनासक्त दृष्टि का बाह्य जीवन में प्रमाण है। एक ओर विपुल संग्रह और दूसरी ओर अनासक्ति, इन दोनों में कोई मेल नहीं है। यदि मन में अनासक्ति की भावना का उदय है तो उसे बाह्य व्यवहार में अनिवार्य रूप से प्रकट होना चाहिए। अनासक्ति की धारणा को व्यावहारिक रूप देने के लिए गृहस्थ जीवन में परिग्रह-मर्यादा और श्रमण जीवन में समग्र परिग्रह के त्याग का निर्देश है। दिगम्बर जैन मुनि का आत्यन्तिक अपरिग्रही जीवन अनासक्त दृष्टि का सजीव प्रमाण है। अपरिग्रही होते हुए भी व्यक्ति के मन में आसक्ति का तत्त्व रह सकता है, लेकिन इस आधार पर यह मानना कि विपुल संग्रह को रखते हुए भी अनासक्त वृत्ति का पूरी तरह निर्वाह हो सकता है, समुचित नहीं है।

जैन आचारदर्शन में यह आवश्यक माना गया है कि साधक चाहे गृहस्थ हो या श्रमण, उसे अपरिग्रह की दिशा में आगे बढ़ना चाहिए। हम देखते हैं कि राष्ट्रों एवं वर्गों की संग्रह एवं शोषण-वृत्ति ने मानव-जाति को कितने कष्टों में डाला है। जैन आचारदर्शन के अनुसार समविभाग और समवितरण साधना का आवश्यक अंग है। जैनविचारधारा में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि जो समविभाग और समवितरण नहीं करता उसकी मुक्ति संभव नहीं है। ऐसा व्यक्ति पापी ही है।[1] समविभाग और समवितरण सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास के अनिवार्य अंग हैं। इसके बिना आध्यात्मिक उपलब्धि भी संभव नहीं। अतः जैन आचार्यों ने नैतिक साधना की दृष्टि से अनासक्ति को अनिवार्य माना है।

बौद्ध धर्म में अनासक्ति—बौद्धपरम्परा में भी अनासक्ति को समग्र बन्धनों एवं दुःखों का मूल माना गया है। बुद्ध कहते हैं कि तृष्णा के नष्ट हो जाने पर सभी बन्धन स्वतः नष्ट हो जाते हैं। तृष्णा दुष्पूर्य है। वे कहते हैं कि चाहे स्वर्ण-मुद्राओं की वर्षा होने लगे, लेकिन उससे भी तृष्णायुक्त मनुष्य की तृप्ति नहीं होती।[2] भगवान् बुद्ध की दृष्टि में तृष्णा ही दुःख है[3] और जिसे यह विषैली नीच तृष्णा घेर लेती है उसके दुःख वैसे ही बढ़ते रहते हैं, जैसे खेतों में वीरण घास बढ़ती रहती है।[4] बौद्धदर्शन में तृष्णा तीन प्रकार की मानी गयी है—१. भवतृष्णा, २. विभवतृष्णा और ३. कामतृष्णा। भवतृष्णा अस्तित्व या बने रहने की तृष्णा है, यह रागस्थानीय है। विभवतृष्णा समाप्त या नष्ट हो जाने की तृष्णा है। यह द्वेषस्थानीय है। कामतृष्णा भोगों की उपलब्धि की तृष्णा है। रूपादि छह विषयों की भव, विभव और कामतृष्णा के आधार पर बौद्ध परम्परा में तृष्णा के १८ भेद भी माने गये हैं। तृष्णा ही बन्धन है। बुद्ध ने ठीक ही कहा है कि बुद्धिमान् लोग उस बन्धन को बन्धन नहीं कहते जो लोहे का बना हो,

---

१. उत्तराध्यनन, १७।११; प्रश्नव्याकरण, २।३. २. धम्मपद, १८६.
३. संयुत्तनिकाय, २।१२।६६, १।१।६५. ४. धम्मपद, ३३५.

लकड़ी का बना हो अथवा रस्सी का बना हो, अपितु दृढ़तर बन्धन तो सोना, चांदी, पुत्र, स्त्री आदि में रही हुई आसक्ति ही है।[१] सुत्तनिपात में भी बुद्ध ने कहा है कि आसक्ति ही बन्धन है[२] जो भी दुःख होता है वह सब तृष्णा के कारण ही होता है।[३] आसक्त मनुष्य आसक्ति के कारण नाना प्रकार के दुःख उठाते हैं।[४] आसक्ति का क्षय ही दुःखों का क्षय है। जो व्यक्ति इस तृष्णा को वश में कर लेता है उसके दुःख उसी प्रकार समाप्त हो जाते हैं जैसे कमलपत्र पर रहा हुआ जल-बिन्दु शीघ्र ही समाप्त हो जाता है।[५] तृष्णा से ही शोक और भय उत्पन्न होते हैं। तृष्णा-मुक्त मनुष्य को न तो भय होता है और न शोक।[६] इस प्रकार बुद्ध की दृष्टि में आसक्ति ही वास्तविक दुःख है और अनासक्ति ही सच्चा सुख है। बुद्ध ने जिस अनात्मवाद का प्रतिपादन किया, उसके पीछे भी उनकी मूल दृष्टि आसक्ति-नाश ही थी। बुद्ध की दृष्टि में आसक्ति, चाहे वह पदार्थों की हो, चाहे वह किसी अतीन्द्रिय आत्मा के अस्तित्व की हो, बन्धन ही है। अस्तित्व की चाह तृष्णा ही है। मुक्ति तो विरागता या अनासक्ति में ही प्रतिफलित होती है।[७] तृष्णा का प्रहाण होना ही निर्वाण है। बुद्ध की दृष्टि में परिग्रह या संग्रह-वृत्ति का मूल यही आसक्ति या तृष्णा है। कहा गया है कि परिग्रह का मूल इच्छा (आसक्ति) है।[८] अतः बुद्ध की दृष्टि में भी अनासक्ति की वृत्ति के उदय के लिए परिग्रह का विसर्जन आवश्यक है।

गीता में अनासक्ति—गीता के आचारदर्शन का भी केन्द्रीय तत्त्व अनासक्ति है। महात्मा गांधी ने तो गीता को 'अनासक्ति-योग' ही कहा है। गीताकार ने भी यह स्पष्ट किया है कि आसक्ति का तत्त्व ही व्यक्ति को संग्रह और भोगवासना के लिए प्रेरित करता है। कहा गया है कि आसक्ति के बन्धन में बँधा हुआ व्यक्ति कामभोग की पूर्ति के लिए अन्याय-पूर्वक अर्थ-संग्रह करता है।[९] इस प्रकार गीताकार की स्पष्ट मान्यता है कि आर्थिक क्षेत्र में अपहरण, शोषण और संग्रह की जो बुराइयाँ पनपती हैं वे सब मूलतः आसक्ति से प्रत्युत्पन्न हैं। गीता के अनुसार आसक्ति और लोभ नरक के कारण हैं। कामभोगों में आसक्त मनुष्य ही नरक और अशुभ योनियों में जन्म लेता है।[१०] सम्पूर्ण जगत् इसी आसक्ति के पाश में बँधा हुआ है और इच्छा और द्वेष से सम्मोहित होकर परिभ्रमण करता रहता है। वस्तुतः आसक्ति के कारण वैयक्तिक और सामाजिक जीवन नारकीय बन जाता है। गीता के नैतिक दर्शन का सारा जोर फलासक्ति को समाप्त करने पर है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन, तू कर्मों के फल में रही हुई आसक्ति का त्याग कर

---

१. धम्मपद, ३४५.
२. सुत्तनिपात, ६८।५
३. वही, ३८।१७.
४. थेरगाथा, १६।७३४.
५. धम्मपद, ३३६.
६. वही, २१६.
७. मज्झिमनिकाय, ३।२०.
८. महानिद्देसपालि, १।११।१०७.
९. गीता, १६।१२.
१०. वही, १६।१६.

निष्काम भाव से कर्म कर।[1] गीताकार ने आसक्ति के प्रहाण का जो उपाय बताया है वह यह है कि सभी कुछ भगवान् के चरणों में समर्पित कर और कर्तृत्व भाव से मुक्त होकर जीवन जीना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शन अनासक्ति के उदय और आसक्ति के प्रहाण को अपने नैतिकदर्शन का महत्त्वपूर्ण अंग मानते हैं। आसक्ति के प्रहाण के दो ही उपाय हैं। आध्यात्मिक रूप में आसक्ति के प्रहाण के लिए हृदय में सन्तोषवृत्ति का उदय होना चाहिए, जबकि व्यावहारिक रूप में आसक्ति के प्रहाण के लिए जैन आचारदर्शन में सुझायी गयी परिग्रह की सीमा-रेखा का निर्धारण भी आवश्यक है। जब तक हृदय में सन्तोषवृत्ति का उदय नहीं होता, तब तक यह दुष्पूर्य तृष्णा एवं आसक्ति समाप्त नहीं होती। उत्तराध्ययन सूत्र में जो यह कहा गया है कि 'लाभ से लोभ बढ़ता जाता है', उसी का सन्त सुन्दरदासजी ने एक सुन्दर चित्र खींचा है। वे कहते हैं कि—

> जो दस बीस पचास भये, शत होई हजार तु लाख मगेगी।
> कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य, धरापति होने की चाह जगेगी॥
> स्वर्ग पताल को राज करो, तिसना अधिकी अति आग लगेगी।
> सुन्दर एक संतोष बिना, शठ तेरी तो भूख कबहूँ न भगेगी॥

पाश्चात्य विचारक महात्मा टालस्टाय ने भी How Much Land Does A Man Require नामक कहानी में एक ऐसा ही सुन्दर चित्र खींचा है। कहानी का सारांश यह है कि कथानायक भूमि की असीम तृष्णा के पीछे अपने जीवन की बाजी भी लगा देता है, किन्तु अन्त में उसके द्वारा उपलब्ध किये गये विस्तृत भू-भाग में केवल उसके शव को दफनाने जितना भू-भाग ही उसके उपयोग में आता है।

वस्तुतः तृष्णा की समाप्ति का एक ही उपाय है—हृदय में सन्तोषवृत्ति या त्याग भावना का उदय। महाभारत के आदिपर्व में ययाति ने कहा है कि जिस प्रकार अग्नि में घृत डालने से अग्नि शान्त नहीं होती, उसी प्रकार कामभोगों से तृष्णा शान्त नहीं होती, वरन् बढ़ती ही जाती है। तृष्णा की अग्नि केवल त्याग के द्वारा ही शान्त हो सकती है। अतः मनुष्य को तृष्णा का त्याग कर सच्चे सुख की शोध करना चाहिए और वह सुख उसे संतोषमय जीवन जीने से ही उपलब्ध हो सकता है।

अनासक्ति के प्रश्न पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार

जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराएँ अनासक्ति के सैद्धान्तिक पक्ष पर समानरूप से बल देती हैं, किन्तु उसके व्यावहारिक फलित अपरिग्रह के सिद्धान्त को लेकर उनमें मत-

१. गीता, १६।१६.

भेद भी है। जहाँ जैन-दर्शन के अनुसार अनासक्त होने के लिए अपरिग्रही होना आवश्यक है, वहाँ गीता और बौद्ध दर्शन यह नहीं मानते है कि अनासक्त होने के लिए अपरिग्रही होना आवश्यक नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार अनासक्त जीवन दृष्टि का प्रमाण यही है कि व्यक्ति का बाह्यजीवन सर्वथा अपरिग्रही हो। परिग्रह का होना स्पष्टतया इस बात का सूचक है कि व्यक्ति मे अभी अनासक्ति का पूर्ण विकास नही हुआ है। यही कारण है कि जैनधर्म की दिगम्बर परम्परा मुक्ति के लिए बाह्य परिग्रह का पूर्णतया त्याग आवश्यक मानती है। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा यह मानती है कि पूर्ण अनासक्त वृत्ति का उदय तो बिना परिग्रह का पूर्ण त्याग किये भी हो सकता है, किन्तु वह भी इतना तो अवश्य मानती ही है कि अनासक्ति का पूर्ण प्रकटन होने पर व्यक्ति बाह्य परिग्रह में उलझा हुआ नहीं रहता है, वह उसका परित्याग कर मुनि बन जाता है। दोनों में अन्तर मात्र यही है कि प्रथम के अनुसार बाह्य परिग्रह का त्याग होने पर ही कैवल्य की प्राप्ति होती है तो दूसरे के अनुसार बाह्य परिग्रह का त्याग होने के पूर्व भी कैवल्य हो सकता है। यद्यपि कैवल्यलाभ के बाद दोनों के ही अनुसार व्यक्ति सर्वथा अपरिग्रही हो ही जाता है।

गीता के अनुसार, अनासक्त वृत्ति के लिए परिग्रहत्याग आवश्यक नहीं है। वैदिक परम्परा के जनक पूर्ण अनासक्त होते हुए भी राजकाज का संचालन करते रहते हैं, जबकि जैन परम्परा का भरत पूर्ण अनासक्ति के आते ही राजकाज छोड़कर मुनि बन जाता है। अनासक्ति और अपरिग्रह के संदर्भ में जैन परम्परा विचारपक्ष और आचारपक्ष की एकरूपता पर जितना बल देती है उतना वैदिक परम्परा नही। वैदिक परम्परा के अनुसार अन्तस् में अनासक्ति और बाह्य जीवन में परिग्रह दोनों एक साथ सम्भव हैं। इस सम्बन्ध में बौद्ध धर्म का दृष्टिकोण भी जैन परम्परा के अधिक निकट है। फिर भी उसे जैन और वैदिक परम्पराओं के मध्य रखना ही उचित होगा। जैन धर्म ने जहाँ मुनि-जीवन के लिए परिग्रह के पूर्ण त्याग और गृहस्थ जीवन में परिग्रह-परिसीमन की अवधारणा प्रस्तुत की, वहाँ बौद्ध धर्म ने केवल भिक्षु के लिए स्वर्ण-रजतरूप परिग्रह त्याग की अवधारणा प्रस्तुत की। उसमें गृहस्थ के लिए परिग्रह परिसीमन का प्रश्न नहीं उठाया गया है। गीता और वैदिक परम्परा यद्यपि संचय और परिग्रह की निन्दा करती है फिर भी वे परिग्रहत्याग को अनिवार्य नही बताती हैं। अनासक्ति और अपरिग्रह को लेकर तीनों परम्पराओं में यही मूलभूत अन्तर है।

वस्तुतः अनासक्ति का अर्थ है—ममत्व का विसर्जन। ममत्व—चाहे वह वैयक्तिक हो या सामाजिक—के सर्जन के लिए ममत्व का विसर्जन आवश्यक है। अनासक्ति और अपरिग्रह में एक ही अन्तर है, वह यह कि अपरिग्रह में ममत्व के विसर्जन के साथ ही सम्पदा का विसर्जन भी आवश्यक है। अनासक्ति, अमूर्च्छा या अलोभ का प्रश्न निरा

वैयक्तिक है किन्तु अपरिग्रह का प्रश्न केवल वैयक्तिक नहीं, सामाजिक भी है। परिग्रह (सम्पदा) के अर्जन, संग्रह और विसर्जन सभी सीधे-सीधे समाज जीवन को प्रभावित करते हैं। अर्जन सामाजिक आर्थिक प्रगति को प्रभावित करता है तो संग्रह अर्थ के समवितरण को प्रभावित करता है। मात्र यही नहीं अर्थ का विसर्जन भी लोककल्याणकारी प्रवृत्तियों को प्रभावित करता है। अतः परिग्रह के अर्जन, उपभोग, संग्रह और विसर्जन के प्रश्न पूरी तरह सामाजिक प्रश्न हैं।

समाज की आर्थिक प्रगति उसके सदस्यों की सम्पदा के अर्जन की आकांक्षा और श्रम निष्ठा पर निर्भर करती है। नैतिक दृष्टि से अर्थोपार्जन की प्रवृत्ति और श्रमनिष्ठा आलोच्य नहीं रही है। यह भय निरर्थक है कि अनासक्ति और अपरिग्रह से आर्थिक प्रगति अवरुद्ध होगी। अपरिग्रह का सिद्धान्त अर्थ के अर्जन का वहाँ तक विरोधी नहीं है जहाँ तक उसके साथ शोषण की दुष्प्रवृत्ति नहीं जुड़ती है। सम्पदा के अर्जन के साथ जब हिंसा शोषण और संग्रह की बुराइयाँ जुड़ती हैं तभी वह अनैतिक बनता है अन्यथा नहीं। भारतीय आर्थिक आदर्श रहा है 'शत हस्त समाहर सहस्र हस्त विकीर्ण' अर्थात् सौ हाथों से इकट्ठा करो और सहस्र हाथों से बाँट दो। आर्थिक संघर्षों का जन्म तब होता है जब सम्पदा का वितरण विषम और उपभोग अनियन्त्रित होता है। संग्रह और शोषण की दुष्प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप जब एक ओर मानवता रोटी के टुकड़ों के अभाव की पीड़ा में सिसकती हो और दूसरी ओर ऐशो-आराम की रंगरेलियाँ चलती हों तब ही वर्ग-संघर्ष का जन्म होता है और सामाजिक शान्ति भंग होती है।

समाज-जीवन में शान्ति तभी सम्भव है, जब सम्पदा का उपभोग, संग्रह और वितरण नियन्त्रित हो। अपरिग्रह का सिद्धान्त इसी प्रश्न को लेकर हमारे सामने उपस्थित होता है। जहाँ तक सम्पदा के अनियन्त्रित उपभोग और संग्रह का प्रश्न है, जैन धर्म गृहस्थ उपासक के उपभोग-परिभोगपरिसीमन और अनर्थदण्डविरमणव्रत के द्वारा उन पर नियन्त्रण लगाता है। किन्तु परिग्रह के विषम वितरण के लिए जो परिग्रहपरिसीमन का व्रत प्रस्तुत किया गया है उसको लेकर कुछ प्रश्न उभरते हैं—प्रथम तो यह कि किसी व्यक्ति के परिग्रह की परिसीमा या मर्यादा क्या होगी? कितना परिग्रह रखना उचित माना जायगा और कितना अनुचित। दूसरे परिग्रह की इस परिसीमा का निर्धारण कौन करेगा—व्यक्ति या समाज। इन प्रश्नों को लेकर डॉ० कमलचन्द सोगाणी ने अपने एक लेख में विचार किया है।[1] जैन आचार्यों ने इन प्रश्नों को खुला छोड़ दिया था, उन्होंने यह मान लिया था कि व्यक्ति कितना परिग्रह रखे और कितना त्याग दे यह उसकी आवश्यकता और उसके स्वविवेक पर निर्भर करेगा। क्योंकि प्रत्येक की आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न हैं। एक उद्योगपति की आवश्यकताएँ और एक प्रोफेसर की आवश्यकताएँ निश्चित

१. देखें—तीर्थंकर, मई १९७७, पृ० ७-९.

ही भिन्न-भिन्न होगी। यही नहीं, एक देश के नागरिक की आवश्यकताएँ दूसरे देश के नागरिक की आवश्यकताओं से भिन्न होगी। युग के आधार पर भी आवश्यकताएँ बदलती हैं। अतः परिग्रह की सीमा का निर्धारण देश, काल, व्यक्ति और परिस्थिति पर निर्भर होगा। आज अर्थशास्त्री भी इस बात को मानकर चलते है कि जो वस्तुएँ एक व्यक्ति के लिए आवश्यक है वे ही दूसरे के लिए विलासिता हो सकती हैं। एक कार डाक्टर के लिए आवश्यक और विश्वविद्यालय के कैम्पस में रहने वाले प्रोफेसर के लिए विलासिता की वस्तु होगी। अतः परिग्रह-मर्यादा का कोई सार्वभौम मानदण्ड सम्भव नही है। तो क्या इस प्रश्न को व्यक्ति के स्वविवेक पर खुला छोड़ दिया जाये? यदि व्यक्ति विवेकशील और संयमी है तब तो निश्चय ही इस सम्बन्ध मे निर्णय लेने का अधिकार उसे है, किन्तु स्थिति इससे भिन्न भी है। यदि व्यक्ति स्वार्थी और वासनाप्रधान है तो निश्चय ही निर्णय का यह अधिकार व्यक्ति के हाथ से छीनकर समाज के हाथों मे सौंपना होगा, जैसा कि आज समाजवादी व्यवस्था मानती है। यद्यपि इस स्थिति मे चाहे सम्पदा का समवितरण एवं सामाजिक शान्ति सम्भव भी हो किन्तु मानसिक शान्ति सम्भव नहीं होगी। वह तो तभी सम्भव होगी जब व्यक्ति की तृष्णा शान्त होगी और जीवन में अनासक्त दृष्टि का उदय होगा। जब अपरिग्रह अनासक्ति से फलित होगा तभी व्यक्ति और समाज में सच्ची शान्ति आएगी।

५ सामाजिक धर्म एवं दायित्व

सामाजिक धर्म

जैन आचारदर्शन में न केवल आध्यात्मिक दृष्टि से धर्म की विवेचना की गयी है, वरन् धर्म के सामाजिक पहलू पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। जैन विचारकों ने संघ या सामाजिक जीवन की प्रमुखता सदैव स्वीकार की है। स्थानांगसूत्र में सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में दस धर्मों का विवेचन उपलब्ध है[1]—१. ग्रामधर्म, २. नगरधर्म, ३. राष्ट्रधर्म, ४. पाखण्डधर्म, ५. कुलधर्म, ६. गणधर्म, ७. संघधर्म, ८. सिद्धान्तधर्म (श्रुतधर्म), ९. चारित्रधर्म और १०. अस्तिकायधर्म। इनमें से प्रथम सात तो पूरी तरह से सामाजिक जीवन से सम्बन्धित हैं।

१. **ग्रामधर्म**—ग्राम के विकास, व्यवस्था तथा शान्ति के लिए जिन नियमों को ग्रामवासियों ने मिलकर बनाया है, उनका पालन करना ग्रामधर्म है। ग्रामधर्म का अर्थ है जिस ग्राम में हम निवास करते हैं, उस ग्राम की व्यवस्थाओं, मर्यादाओं एवं नियमों के अनुरूप कार्य करना। ग्राम का अर्थ व्यक्तियों के कुलों का समूह है। अतः सामूहिक रूप में एक-दूसरे के सहयोग के आधार पर ग्राम का विकास करना, ग्राम के अन्दर पूरी तरह व्यवस्था और शान्ति बनाये रखना और आपस में वैमनस्य और क्लेश उत्पन्न न हो उसके लिए प्रयत्नशील रहना ही ग्रामधर्म के प्रमुख तत्त्व हैं। ग्राम में शान्ति एवं व्यवस्था नहीं है, तो वहाँ के लोगों के जीवन में भी शान्ति नहीं रहती। जिस परिवेश में हम जीते हैं, उसमें शान्ति और व्यवस्था के लिए आवश्यक रूप से प्रयत्न करना हमारा कर्तव्य है। प्रत्येक ग्रामवासी सदैव इस बात के लिए जागृत रहे कि उसके किसी आचरण से ग्राम के हितों को चोट न पहुँचे। ग्रामधर्म की व्यवस्था के लिए जैन आचार्यों ने ग्रामस्थविर की व्यवस्था भी की है। ग्रामस्थविर ग्राम का मुखिया या नेता होता है। ग्रामस्थविर का प्रयत्न रहता है कि ग्राम की व्यवस्था, शान्ति एवं विकास के लिए, ग्रामजनों मे पारस्परिक स्नेह और सहयोग बना रहे।

२. **नगरधर्म**—ग्रामों के मध्य में स्थित एक केन्द्रीय ग्राम को जो उनका व्यावसायिक केन्द्र होता है, नगर कहा जाता है। सामान्यतः ग्राम-धर्म और नगरधर्म में विशेष अन्तर नहीं है। नगरधर्म के अन्तर्गत नगर की व्यवस्था एवं शान्ति, नागरिक-नियमों का पालन एवं नागरिकों के पारस्परिक हितों का संरक्षण-संवर्धन आता है।

१. स्थानांग १०।७६०

विशेष विवेचना के लिए देखिए—(अ) धर्म व्याख्या (श्री जवाहरलालजी म०)

(ब) धर्म दर्शन (श्री शुक्लचन्दजी म०)

लेकिन नागरिकों का उत्तरदायित्व केवल नगर के हितों तक ही सीमित नहीं है। युगीन सन्दर्भ में नगरधर्म यह भी है कि नागरिकों के द्वारा ग्रामवासियों का शोषण न हो। नगरजनों का उत्तरदायित्व ग्रामीणजनों की अपेक्षा अधिक है। उन्हें न केवल अपने नगर के विकास एवं व्यवस्था का ध्यान रखना चाहिए वरन् उन समग्र ग्रामवासियों के हित की भी चिन्ता करनी चाहिए; जिनके आधार पर नगर की व्यावसायिक तथा आर्थिक स्थितियाँ निर्भर हैं। नगर में एक योग्य नागरिक के रूप में जीना, नागरिक कर्त्तव्यों एवं नियमों का पूरी तरह पालन करना ही मनुष्य का नगरधर्म है।

जैन सूत्रों में नगर की व्यवस्था आदि के लिए नगरस्थविर की योजना का उल्लेख है। आधुनिक युग में जो स्थान एवं कार्य नगरपालिका अथवा नगरनिगम के अध्यक्ष के हैं, जैन परम्परा में वही स्थान एवं कार्य नगरस्थविर के हैं।

३. **राष्ट्रधर्म**—जैन विचारणा के अनुसार प्रत्येक ग्राम एवं नगर किसी राष्ट्र का अंग होता है और प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक विशिष्ट सांस्कृतिक चेतना होती है जो ग्रामीणों एवं नागरिकों को एक राष्ट्र के सदस्यों के रूप में आपस में बाँधकर रखती है। राष्ट्रधर्म का तात्पर्य है राष्ट्र की सांस्कृतिक चेतना अथवा जीवन की विशिष्ट प्रणाली को सजीव बनाये रखना। राष्ट्रीय विधि-विधान, नियमों एवं मर्यादाओं का पालन करना ही राष्ट्रधर्म है। आधुनिक सन्दर्भ में राष्ट्रधर्म का तात्पर्य है राष्ट्रीय एकता एवं निष्ठा को बनाये रखना तथा राष्ट्र के नागरिकों के हितों का परस्पर घात न करते हुए, राष्ट्र के विकास में प्रयत्नशील रहना, राष्ट्रीय शासन के नियमों के विरुद्ध कार्य न करना, राष्ट्रीय विधि-विधानों का आदर करते हुए उनका समुचित रूप से पालन करना। उपासकदशांगसूत्र में राज्य के नियमों के विपरीत आचरण करना दोषपूर्ण माना गया है। जैनागमों में राष्ट्रस्थविर का विवेचन भी उपलब्ध है। प्रजातंत्र में जो स्थान राष्ट्रपति का है वही प्राचीन भारतीय परम्परा में राष्ट्रस्थविर का होगा, यह माना जा सकता है।

४. **पाखण्डधर्म**—जैन आचार्यों ने पाखण्ड की अपनी व्याख्या की है। जिसके द्वारा पाप का खण्डन होता हो वह पाखण्ड है।[1] दशवैकालिकनिर्युक्ति के अनुसार पाखण्ड एक व्रत का नाम है। जिसका व्रत निर्मल हो, वह पाखण्डी।[2] सामान्य नैतिक नियमों का पालन करना ही पाखण्डधर्म है। सम्प्रति पाखण्ड का अर्थ ढोंग हो गया है, वह अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है। पाखण्डधर्म का तात्पर्य अनुशासित, नियमित एवं संयमित जीवन है। पाखण्डधर्म के लिए व्यवस्थापक के रूप में प्रशास्ता-स्थविर का निर्देश है। प्रशास्ता-स्थविर शब्द की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट लगता है कि वह जनता को धर्मोपदेश के माध्यम से नियंत्रित करनेवाला अधिकारी है। प्रशास्ता-स्थविर का कार्य लोगों को

१. धर्म-दर्शन, पृ० ८६ २. दशवैकालिकनिर्युक्ति, १५८.

धार्मिक निष्ठा, संयम एवं व्रत-पालन के लिए प्रेरित करते रहना है। हमारे विचार में प्रशास्ता-स्थविर राजकीय धर्माधिकारी के समान होता होगा जिसका कार्य जनता को सामान्य नैतिक जीवन की शिक्षा देना होता होगा।

५. **कुलधर्म**—परिवार अथवा वंश-परम्परा के आचार-नियमों एवं मर्यादाओं का पालन करना कुलधर्म है। परिवार का अनुभवी, वृद्ध एवं योग्य व्यक्ति कुलस्थविर होता है। परिवार के सदस्य कुलस्थविर की आज्ञाओं का पालन करते हैं और कुलस्थविर का कर्तव्य है परिवार का संवर्धन एवं विकास करना तथा उसे गलत प्रवृत्तियों से बचाना। जैन परम्परा में गृहस्थ एवं मुनि दोनों के लिए कुलधर्म का पालन आवश्यक है, यद्यपि मुनि का कुल उसके पिता के आधार पर नहीं वरन् गुरु के आधार पर बनता है।

६. **गणधर्म**—गण का अर्थ समान आचार एवं विचार के व्यक्तियों का समूह है। महावीर के समय में हमें गणराज्यों का उल्लेख मिलता है। गणराज्य एक प्रकार के प्रजासत्तात्मक राज्य होते हैं। गणधर्म का तात्पर्य है गण के नियमों और मर्यादाओं का पालन करना। गण दो माने गये हैं—१. लौकिक (सामाजिक) और २. लोकोत्तर (धार्मिक)। जैन परम्परा में वर्तमान युग में भी साधुओं के गण होते हैं जिन्हें गच्छ कहा जाता है। प्रत्येक गण (गच्छ) के आचार-नियमों में थोड़ा-बहुत अन्तर भी रहता है। गण के नियमों के अनुसार आचरण करना गणधर्म है। परस्पर सहयोग तथा मैत्री रखना गण के प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य है। गण का एक गणस्थविर होता है। गण की देशकालगत परिस्थितियों के आधार पर व्यवस्थाएँ देना, नियमों को बनाना और पालन करवाना गणस्थविर का कार्य है। जैन विचारणा के अनुसार बार-बार गण को बदलने वाला साधक हीन दृष्टि से देखा गया है। बुद्ध ने भी गण की उन्नति के नियमों का प्रतिपादन किया है।

७. **संघधर्म**—विभिन्न गणों से मिलकर संघ बनता है। जैन आचार्यों के संघ-धर्म की व्याख्या संघ या सभा के नियमों के परिपालन के रूप में की है। संघ एक प्रकार की राष्ट्रीय संस्था है जिसमें विभिन्न कुल या गण मिलकर सामूहिक विकास एवं व्यवस्था का निश्चय करते हैं। संघ के नियमों का पालन करना संघ के प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य है।

जैन परम्परा में संघ के दो रूप हैं १. लौकिक संघ और २. लोकोत्तर संघ। लौकिक संघ का कार्य जीवन के भौतिक पक्ष की व्यवस्थाओं को देखना है, जबकि लोकोत्तर संघ का कार्य आध्यात्मिक विकास करना है। लौकिक संघ हो या लोकोत्तर संघ हो, संघ के प्रत्येक सदस्य का यह अनिवार्य कर्त्तव्य माना गया है कि वह संघ के नियमों का पूरी तरह पालन करें। संघ में किसी भी प्रकार के मनमुटाव अथवा संघर्ष के लिए कोई भी कार्य नहीं करें। एकता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए सदैव ही

प्रयत्नशील रहे। जैन परम्परा के अनुसार साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका इन चारों से मिलकर संघ का निर्माण होता है। नन्दीसूत्र में संघ के महत्त्व का विस्तार-पूर्वक सुन्दर विवेचन हुआ है, जिससे स्पष्ट है कि जैन में नैतिक साधना में संघीय जीवन का कितना अधिक महत्त्व है।[1]

८ **श्रुतधर्म**—सामाजिक दृष्टि से श्रुतधर्म का तात्पर्य है शिक्षण-व्यवस्था सम्बन्धी नियमों का पालन करना। शिष्य का गुरु के प्रति, गुरु का शिष्य के प्रति कैसा व्यवहार हो यह श्रुतधर्म का ही विषय है। सामाजिक संदर्भ में श्रुतधर्म से तात्पर्य शिक्षण की सामाजिक या संघीय व्यवस्था है। गुरू और शिष्य के कर्त्तव्यों तथा पारस्परिक सम्बन्धों का बोध और उनका पालन श्रुतधर्म या ज्ञानार्जन का अनिवार्य अंग है। योग्य शिष्य को ज्ञान देना गुरु का कर्तव्य है, जबकि शिष्य का कर्त्तव्य गुरु की आज्ञाओं का श्रद्धा-पूर्वक पालन करना है।

९ **चारित्रधर्म**—चारित्रधर्म का तात्पर्य है श्रमण एवं गृहस्थ धर्म के आचार-नियमों का परिपालन करना। यद्यपि चरित्रधर्म का बहुत कुछ सम्बन्ध वैयक्तिक साधना से है, तथापि उनका सामाजिक पहलू भी है। जैन आचार के नियमों एवं उपनियमों के पीछे सामाजिक दृष्टि भी है। अहिंसा सम्बन्धी सभी नियम और उपनियम सामाजिक शान्ति के संस्थापन के लिए हैं। अनाग्रह सामाजिक जीवन से वैचारिक विद्वेष एवं वैचारिक संघर्ष को समाप्त करता है। इसी प्रकार अपरिग्रह सामाजिक जीवन से संग्रह वृत्ति, अस्तेय और शोषण को समाप्त करता है। अहिंसा, अनाग्रह और अपरिग्रह पर आधारित जैन आचार के नियम-उपनियम प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में सामाजिक दृष्टि से युक्त हैं यह माना जा सकता है।

१०. **अस्तिकायधर्म**—अस्तिकायधर्म का बहुत कुछ सम्बन्ध तत्त्वमीमांसा से है, अतः उसका विवेचन यहाँ अप्रासंगिक है।

इस प्रकार जैन आचार्यों ने न केवल वैयक्तिक एवं आध्यात्मिक पक्षों के सम्बन्ध में विचार किया वरन् सामाजिक जीवन पर भी विचार किया है। जैन सूत्रों में उपलब्ध नगरधर्म, ग्रामधर्म, राष्ट्रधर्म आदि का वर्णन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि जैन आचारदर्शन सामाजिक पक्ष का यथोचित मूल्यांकन करते हुए उसके विकास का भी प्रयास करता है।

जैनधर्म और सामाजिक दायित्व

यद्यपि प्राचीन जैन आगम साहित्य में सामाजिक दायित्व का विस्तृत विवेचन उप-लब्ध नहीं है किन्तु उसमें यत्र-तत्र कुछ बिखरे हुए ऐसे सूत्र हैं, जो व्यक्ति के सामाजिक दायित्वों को स्पष्ट करते हैं। जैन आगमों की अपेक्षा परवर्ती साहित्य में मुनि और

१. नन्दीसूत्र-पीठिका, ४-१७

गृहस्थ उपासक दोनों के ही सामाजिक दायित्वों की विस्तृत चर्चा है। सर्व प्रथम हम मुनि के सामाजिक दायित्वों की चर्चा करेंगे।

जैन मुनि के सामाजिक दायित्व—यद्यपि मुनि का मूल लक्ष्य आत्म-साधना है फिर भी प्राचीन जैन आगमों में उसके लिए निम्न सामाजिक दायित्व निर्दिष्ट हैं:—

१. **नीति और धर्म का प्रकाशन**—मुनि का सर्व प्रथम सामाजिक दायित्व यह है कि वह नगरों या ग्रामों में जाकर जनसाधारण को सन्मार्ग का उपदेश देवे। आचारांग में स्पष्ट रूप से निर्देश है कि मुनि ग्राम एवं नगर की पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं में जाकर धनी-निर्धन या ऊँच-नीच का भेद किये बिना सभी को धर्ममार्ग का उपदेश दें[1]। इस प्रकार जन साधारण को नैतिक जीवन एवं सदाचार की ओर प्रवृत्त करना यह मुनि का प्रथम सामाजिक दायित्व है। वह समाज में नैतिकता एवं सदाचार का प्रहरी है। समाज अनैतिकता की ओर अग्रसर न हो यह देखना उसका दायित्व है। चूँकि मुनि भिक्षा आदि के रूप में जीवन निर्वाह के साधन समाज से उपलब्ध करता है, इसलिए समाज का प्रत्युपकार करना उसका कर्तव्य है।

२. **धर्म की प्रभावना एवं संघ की प्रतिष्ठा की रक्षा**—सामान्य रूप से संघ का और विशेष रूप से आचार्य, गणी एवं गच्छ नायक का यह अनिवार्य कर्तव्य है कि वे संघ की प्रतिष्ठा एवं गरिमा को अक्षुण्ण बनाये रखें। उन्हें इस बात का ध्यान रखना होता है कि संघ की प्रतिष्ठा का रक्षण हो, संघ का पराभव न हो, जैनधर्म के प्रति उपासक वर्ग की आस्था बनी रहे और उसके प्रति लोगों में अश्रद्धा का भाव उत्पन्न न हो। निशीथचूर्णी आदि में उल्लेख है कि संघ की प्रतिष्ठा के रक्षण निमित्त अपवाद मार्ग का भी सहारा लिया जा सकता है—उदाहरणार्थ मुनि के लिए मंत्र-तंत्र करना, चमत्कार बताना या तप-ऋद्धि का प्रदर्शन करना वर्जित है किन्तु संघहित और धर्म प्रभावना के लिए वह यह सब कर सकता है[2]। इस प्रकार संघ का संरक्षण आवश्यक माना गया है क्योंकि वह साधना की आधार भूमि है।

३. **भिक्षु-भिक्षुणियों की सेवा एवं परिचर्या**—जैन मुनि का तीसरा सामाजिक दायित्व संघ-सेवा है। महावीर एवं बुद्ध की यह विशेषता है कि उन्होंने सामूहिक साधना पद्धति का विकास किया और भिक्षु संघ एवं भिक्षुणी संघ जैसी सामाजिक संस्थाओं का निर्माण किया। जैनागमों में प्रत्येक भिक्षु और भिक्षुणी का यह अनिवार्य कर्तव्य माना गया है कि वे अन्य भिक्षुओं और भिक्षुणियों की सेवा एवं परिचर्या करें। यदि वे किसी ऐसे ग्राम या नगर में पहुँचते हैं कि जहाँ कोई रोगी या वृद्ध भिक्षु पहले से निवास कर रहा हो तो उनका प्रथम दायित्व होता है कि वे उसकी यथोचित परिचर्या करें और यह ध्यान रखें कि उनके कारण उसे असुविधा न हो।[3] संघ व्यवस्था में आचार्य, उपाध्याय;

१. आचारांग १।२।५ २. निशीथचूर्णी १७४३ ३. निशीथ १०।३७

स्थविर (वृद्ध-मुनि), रोगी (ग्लान), अध्ययनरत नवदीक्षित मुनि, कुल, संघ और साधर्मी की सेवा परिचर्या के विशेष निर्देश दिये गये थे।

४. **भिक्षुणी संघ का रक्षण**—निशीथचूर्णि के अनुसार मुनिसंघ का एक अन्य दायित्व यह भी था कि वह असामाजिक एवं दुराचारी लोगों से भिक्षुणी संघ की रक्षा करें। ऐसे प्रसंगों पर यदि मुनि मर्यादा भंग करके भी कोई आचरण करना पड़ता तो वह क्षम्य माना जाता था[1]।

५. **संघ के आदेशों का परिपालन**—प्रत्येक स्थिति में संघ (समाज) सर्वोपरि था। आचार्य जो सघ का नायक होता था, उसे भी संघ के आदेश का पालन करना होता था। वैयक्तिक साधना की अपेक्षा भी संघ का हित प्रधान माना गया था। संघ के हितों और आदेशों की अवमानना करने पर दण्ड देने की व्यवस्था थी। श्वेताम्बर साहित्य में यहाँ तक उल्लेख है कि पाटलीपुत्र वाचना के समय संघ के आदेश की अवमानना करने पर आचार्य भद्रबाहु को संघ से बहिष्कृत कर देने तक के निर्देश दे दिये थे।

गृहस्थ वर्ग के सामाजिक दायित्व

१. **भिक्षु-भिक्षुणियों की सेवा**—उपासक वर्ग का प्रथम सामाजिक दायित्व था आहार, औषधि आदि के द्वारा श्रमण संघ की सेवा करना। अपनी दैहिक आवश्यकताओं के सन्दर्भ में मुनिवर्ग पूर्णतया गृहस्थों पर अवलम्बित था अतः गृहस्थों का प्राथमिक कर्तव्य था कि वे उनकी इन आवश्यकताओं की पूर्ति करें। अतिथि संविभाग को गृहस्थों का धर्म माना गया था[2]। इस दृष्टि से उन्हें भिक्षु-भिक्षुणी संघ का 'माता-पिता' कहा गया था। यद्यपि साधु-साध्वियों के लिए भी यह स्पष्ट निर्देश था कि वे गृहस्थों पर भार स्वरूप न बने।

२. **परिवार की सेवा**—गृहस्थ का दूसरा सामाजिक दायित्व अपने वृद्ध माता-पिता, पत्नी, पुत्र-पुत्री आदि परिजनों की सेवा एवं परिचर्या करना है। श्वेताम्बर साहित्य में उल्लेख है कि महावीर ने माता का अपने प्रति अत्यधिक स्नेह देखकर यह निर्णय ले लिया था कि जब तक उनके माता-पिता जीवित रहेंगे वे संन्यास नहीं लेंगे। यह माता-पिता के प्रति भक्ति भावना का सूचक ही है। यद्यपि इस सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा का दृष्टिकोण भिन्न है। जैनधर्म में संन्यास लेने के पहले पारिवारिक उत्तरदायित्वों से मुक्ति पाना आवश्यक माना गया है। मुझे जैन आगमों में एक भी उल्लेख ऐसा देखने को नहीं मिला कि जहाँ बिना परिजनों की अनुमति से किसी व्यक्ति ने संन्यास ग्रहण किया हो। जैनधर्म में आज भी यह परम्परा अक्षुण्णरूप से कायम है। कोई भी व्यक्ति बिना परिजनों एवं समाज (संघ) की अनुमति के संन्यास ग्रहण नहीं कर सकता है।

---

१. निशीथचूर्णी २८९   २. उपासकदशांगसूत्र १

माता, पिता, पुत्र, पुत्री, पति या पत्नी की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक होता है। इसके पीछे मूल भावना यही है कि व्यक्ति सामाजिक उत्तरदायित्वों से निवृत्त होकर ही संन्यास ग्रहण करे। इस बात की पुष्टि अन्तकृतदशा के निम्न उदाहरण से होती है—जब श्रीकृष्ण को यह ज्ञात हो गया कि द्वारिका का शीघ्र ही विनाश होने वाला है, तो उन्होंने स्पष्ट घोषणा करवा दी कि यदि कोई व्यक्ति संन्यास लेना चाहता है किन्तु इस कारण से नहीं ले पा रहा हो कि उसके माता-पिता, पुत्र-पुत्री एवं पत्नी का पालन-पोषण कौन करेगा—तो उनके पालन-पोषण का उत्तरदायित्व मैं वहन करूँगा[1]। यद्यपि बुद्ध ने प्रारम्भ में संन्यास के लिए परिजनों की अनुमति को आवश्यक नहीं माना था अतः अनेक युवकों ने परिजनों की अनुमति के बिना ही संघ में प्रवेश ले लिया था किन्तु आगे चलकर उन्होंने भी यह नियम बना दिया था कि बिना परिजनों की अनुमति के उपसम्पदा प्रदान नहीं की जाये। मात्र यही नहीं उन्होंने यह भी घोषित कर दिया है कि ऋणी, राजकीय सेवक या सैनिक को भी, जो सामाजिक उत्तरदायित्वों से भाग कर भिक्षु बनना चाहते हैं, बिना पूर्व अनुमति के उपसम्पदा प्रदान नहीं की जावे। हिन्दू-धर्म भी पितृ-ऋण अर्थात् सामाजिक दायित्व को चुकाये बिना-संन्यास की अनुमति नहीं देता है। चाहे संन्यास लेने का प्रश्न हो या गृहस्थ जीवन में ही आत्मसाधना की बात हो—सामाजिक उत्तरदायित्वों को पूर्ण करना आवश्यक माना गया है।

३. **विवाह एवं सन्तान प्राप्ति**—जैनधर्म मूलतः निवृत्तिप्रधान है अतः आगम ग्रन्थों में विवाह एवं पति-पत्नी के पारम्परिक दायित्वों की चर्चा नहीं मिलती है। जैनधर्म हिन्दूधर्म के समान न तो विवाह को अनिवार्य कर्तव्य मानता है और न सन्तान प्राप्ति को। किन्तु ईसा की ५वीं शती एवं परवर्ती कथा साहित्य में इन दायित्वों का उल्लेख है। जैन पौराणिक साहित्य तो भगवान ऋषभदेव को विवाह संस्था का संस्थापक ही बताता है। आदिपुराण में विवाह एवं पति-पत्नी के पारस्परिक एवं सामाजिक दायित्वों की चर्चा है उसमें विवाह के दो उद्देश्य बताए गये हैं :—१. कामवासना की तृप्ति और २. सन्तानोत्पत्ति। जैनाचार्यों ने विवाह संस्था को यौन-सम्बन्धों के नियंत्रण एवं वैधी-करण के लिए आवश्यक माना था। गृहस्थ का स्वपत्नी संतोषव्रत न केवल व्यक्ति की कामवासना को नियंत्रित करता है अपितु सामाजिक जीवन में यौन-व्यवहार को परिष्कृत भी बनाता है। अविवाहित स्त्री से यौनसम्बन्ध स्थापित करने, वेश्यागमन करने आदि का निषेध इसी बात का सूचक है। जैनधर्म सामाजिक जीवन में यौन सम्बन्धों की शुद्धि को आवश्यक मानता है। विवाह के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए आदिपुराण में बताया गया है कि जिस प्रकार ज्वर से पीड़ित व्यक्ति उसके उपशमनार्थ कटु-औषधि का सेवन करता है, उसी प्रकार काम-ज्वर से सन्तप्त हुआ प्राणी उसके उपशमनार्थ स्त्रीरूपी

१ अन्तकृतदशांग ५।१।२१.

औषधि का सेवन करता है[१]। यहाँ जैनधर्म की निवृत्तिप्रधान दृष्टि कोअक्षुण्ण रखते हुए वैवाहिक जीवन की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। वैवाहिक जीवन की आवश्यकता न केवल यौन-वासना की संतुष्टि के लिए अपितु कुल जाति एवं धर्म का संवर्द्धन करने के लिए भी है। आदिपुराण में यह भी उल्लेख है कि विवाह न करने से सन्तति का उच्छेद हो जाता है, सन्तति के उच्छेद से धर्म का उच्छेद हो जाता है अतः विवाह गृहस्थों का धार्मिक कर्तव्य है[२]।

वैवाहिक जीवन में परस्पर प्रीति को आवश्यक माना गया है, यद्यपि जैनधर्म का मुख्य बल वासनात्मक प्रेम की अपेक्षा समर्पण भावना या विशुद्ध प्रेम की ओर अधिक है। नेमि और राजुल तथा विजयसेठ और विजया सेठानी के वासनारहित प्रेम की चर्चा से जैन कथा साहित्य परिपूर्ण है। इन दोनों युगलों की गौरवगाथा आज भी जैन समाज में श्रद्धा के साथ गाई जाती है। विजय सेठ और विजया सेठानी का जीवन-वृत्त गृहस्थ जीवन में रहकर ब्रह्मचर्य के पालन का सर्वोच्च आदर्श माना जाता है।

वैवाहिक जीवन से सम्बन्धित अन्य समस्याओं जैसे विवाह-विच्छेद, विधवा-विवाह, पुनर्विवाह आदि के विधि-निषेध के सम्बन्ध में हमें स्पष्ट उल्लेख तो प्राप्त नहीं होते हैं कि जैन कथासाहित्य में इन प्रवृत्तियों को सदैव ही अनैतिक माना जाता रहा है। अपवादरूप से कुछ उदाहरणों को छोड़कर जैन समाज में अभी तक इन प्रवृत्तियों का प्रचलन नहीं है और न ऐसी प्रवृत्तियों को अच्छी निगाह से देखा जाता है। यद्यपि विधवा विवाह और पुनर्विवाह के समर्थक ऋषभदेव के जीवन का उदाहरण देते हैं। जैन कथा साहित्य के अनुसार ऋषभदेव ने एक युगलिये की अकाल मृत्यु हो जाने पर उसकी बहन/पत्नी से विवाह किया था। जैन कथा साहित्य के अनुसार ऋषभदेव के पूर्व बहन ही यौवनावस्था में पत्नी बनती थी, उन्होंने ही इस प्रथा को समाप्त कर विवाह संस्था की स्थापना की थी अतः यह मानना उचित नहीं है कि उन्होंने विधवा विवाह किया था। समाज में बहुपत्नी प्रथा की उपस्थिति के अनेक उदाहरण जैन आगम साहित्य और कथा साहित्य में मिलते हैं, यद्यपि बहुपति प्रथा का एक मात्र द्रौपदी का उदाहरण ही उपलब्ध है—किन्तु इनका कहीं समर्थन किया गया हो या इन्हें नैतिक और धार्मिक दृष्टि से उचित माना गया हो ऐसा कोई भी उल्लेख मेरे देखने में नहीं आया। आदर्श के रूप में सदैव ही एक पत्नी व्रत या एक-पतिव्रत की प्रशंसा की गई है।

वस्तुतः जैनधर्म वैयक्तिक नैतिकता पर बल देकर सामाजिक सम्बन्धों को शुद्ध और मधुर बनाता है। उसके सामाजिक आदेश निम्न हैं:—

१. आदिपुराण ११।१६६-१६७.   २. वही १५।६१-६४.

जैनधर्म में सामाजिक जीवन के निष्ठा सूत्र

१. सभी आत्माएँ स्वरूपतः समान हैं, अतः सामाजिक-जीवन में ऊँच-नीच के वर्ग-भेद खड़े मत करो[1]। —उत्तराध्ययन १२।३७.
२. सभी आत्माएँ समान रूप से सुखाभिलाषी हैं, अतः दूसरे के हितों का हनन, शोषण या अपहरण करने का अधिकार किसी को नहीं है। —आचारांग १।२।३।३.
३. सबके साथ वैसा व्यवहार करो, जैसा तुम उनसे स्वयं के प्रति चाहते हो। —समणसुत्तं २४.
४. संसार के सभी प्राणियों के साथ मैत्री भाव रखो, किसी से भी घृणा एवं विद्वेष मत रखो[3]। —समणसुत्तं ८६
५. गुणीजनों के प्रति आदर-भाव और दुष्टजनों के प्रति उपेक्षा-भाव (तटस्थ-वृत्ति) रखो। —सामायिक पाठ १
६. संसार में जो दुःखी एवं पीड़ित जन हैं, उनके प्रति करुणा और वात्सल्यभाव रखो और अपनी स्थिति के अनुरूप उन्हें सेवा-सहयोग प्रदान करो।

जैनधर्म में सामाजिक जीवन के व्यवहार सूत्र

उपासकदशांगसूत्र, योगशास्त्र एवं रत्नकरण्ड श्रावकाचार में वर्णित श्रावक के गुणों, बारह व्रतों एवं उनके अतिचारों से निम्न सामाजिक आचारनियम फलित होते हैं:—

१. किसी निर्दोष प्राणी को बन्दी मत बनाओ अर्थात् सामान्य जनों की स्वतन्त्रता में बाधक मत बनो।
२. किसी का वध या अंगछेद मत करो, किसी से भी मर्यादा से अधिक काम मत लो, किसी पर शक्ति से अधिक बोझ मत लादो।
३. किसी की आजीविका में बाधक मत बनो।
४. पारस्परिक विश्वास को भंग मत करो। न तो किसी की अमानत हड़प जाओ और न किसी के गुप्त रहस्य को प्रकट करो।
५. सामाजिक जीवन में गलत सलाह मत दो, अफवाहें मत फैलाओ और दूसरों के चरित्र-हनन का प्रयास मत करो।
६. अपने स्वार्थ की सिद्धि-हेतु असत्य घोषणा मत करो।
७. न तो स्वयं चोरी करो, न चोर को सहयोग दो और न चोरी का माल खरीदो।
८. व्यवसाय के क्षेत्र में नाप-तौल में प्रामाणिकता रखो और वस्तुओं में मिलावट मत करो।
९. राजकीय नियमों का उल्लंघन और राज्य के करों का अपवंचन मत करो।
१०. अपने यौन सम्बन्धों में अनैतिक आचरण मत करो। वेश्या-संसर्ग, वेश्या-वृत्ति एवं उसके द्वारा धन का अर्जन मत करो।

११. अपनी सम्पत्ति का परिसीमन करो और उसे लोक हितार्थ व्यय करो।
१२. अपने व्यवसाय के क्षेत्र को सीमित करो और वर्जित व्यवसाय मत करो।
१३. अपनी उपभोग सामग्री की मर्यादा करो और उसका अति संग्रह मत करो।
१४. वे सभी कार्य मत करो, जिससे तुम्हारा कोई हित नहीं होता है।
१५. यथा सम्भव अतिथियों की, सन्तजनों की, पीड़ित एवं असहाय व्यक्तियों की सेवा करो। अन्न, वस्त्र, आवास, औषधि आदि के द्वारा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करो।
१६. क्रोध मत करो, सबसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करो।
१७. दूसरों की अवमानना मत करो, विनीत बनो, दूसरों का आदर-सम्मान करो।
१८. कपटपूर्ण व्यवहार मत करो। दूसरों के प्रति व्यवहार में निश्छल एवं प्रामाणिक रहो।
१९. तृष्णा मत रखो, आसक्ति मत बढ़ाओ।
२०. न्याय-नीति से धन उपार्जन करो।
२१. शिष्ट पुरुषों के आचार की प्रशंसा करो।
२२. प्रसिद्ध देशाचार का पालन करो।
२३. सदाचारी पुरुषों की संगति करो।
२४. माता-पिता की सेवा-भक्ति करो।
२५. रगड़े-झगड़े और बखेड़े पैदा करने वाली जगह से दूर रहो, अर्थात् चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने वाले स्थान में न रहो।
२६. आय के अनुसार व्यय करो।
२७. अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार वस्त्र पहनो।
२८. धर्म के साथ अर्थ-पुरुषार्थ, काम-पुरुषार्थ और मोक्ष-पुरुषार्थ का इस प्रकार सेवन करो कि कोई किसी का बाधक न हो।
२९. अतिथि और साधु जनों का यथायोग्य सत्कार करो।
३०. कभी दुराग्रह के वशीभूत न होओ।
३१. देश और काल के प्रतिकूल आचरण न करो।
३२. जिनके पालन-पोषण करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर हो, उनका पालन-पोषण करो।
३३. अपने प्रति किये हुए उपकार को नम्रता पूर्वक स्वीकार करो।
३४. अपने सदाचार एवं सेवा-कार्य के द्वारा जनता का प्रेम सम्पादित करो।
३५. लज्जाशील बनो। अनुचित कार्य करने में लज्जा का अनुभव करो।
३६. परोपकार करने में उद्यत रहो। दूसरों की सेवा करने का अवसर आने पर पीछे मत हटो।

उपर्युक्त और अन्य कितने ही आचार नियम ऐसे हैं, जो जैन-नीति की सामाजिक सार्थकता को स्पष्ट करते है। आवश्यकता इस बात की है कि हम आधुनिक सन्दर्भ में उनकी व्याख्या एवं समीक्षा करें तथा उन्हें युगानुकूल बनाकर प्रस्तुत करें।

बौद्ध-परम्परा में सामाजिक धर्म—बौद्ध परम्परा में भी धर्म के सामाजिक पहलू पर प्रकाश डाला गया है। बुद्ध ने स्वयं ही सामाजिक प्रगति के कुछ नियमों का निर्देश किया है। बुद्ध के अनुसार सामाजिक प्रगति के सात नियम हैं:—१. बार-बार एकत्र होना, २. सभी का एकत्र होना, ३. निश्चित नियमों का पालन करना तथा जिन नियमों का विधान नहीं किया गया है, उनके सम्बन्ध में यह नहीं कहना कि ये विधान किये गये हैं, अर्थात् नियमों का निर्माण कर उन नियमों के अनुसार ही आचरण करना, ४. अपने यहाँ के वृद्ध राजनीतिज्ञों का मान रखना और उनसे यथा-वसर परामर्श प्राप्त करते रहना, ५. विवाहित और अविवाहित स्त्रियों पर अत्याचार नहीं करना और उन्हें उचित मान देना, ६. नगर के और बाहर के देवस्थानों का समुचित रूप से संरक्षण करना और ७. अपने राज्य में आये हुए अर्हन्तों (वीतराग पुरुषों) को किसी प्रकार का कष्ट न हो तथा न आये हुए अर्हन्तों को राज्य में आने के लिए प्रोत्साहन मिले ऐसी सावधानी रखना। बुद्ध ने उपर्युक्त सात अभ्युदय के नियमों का प्रतिपादन किया था और यह बताया था कि यदि (वज्जी) गण इन नियमों का पालन करता रहेगा तो उसको उन्नति होगी, अवनति नहीं[1]।

बुद्ध ने जैसे गृहस्थ वर्ग की उन्नति के नियम बताये, वैसे ही भिक्षु संघ के सामाजिक नियमों का भी विधान किया जिससे संघ में विवाद उत्पन्न न हो और संगठन बना रहे। बुद्ध के अनुसार इन नियमों का पालन करने से संघ में संगठन और एकता बनी रहती है—१. मैत्रीपूर्ण कायिक कर्म, २. मैत्रीपूर्ण वाचिक कर्म, ३ मैत्रीपूर्ण मानसिक कर्म, ४. उपासकों से प्राप्त दान का सारे संघ के साथ सम-विभाजन, ५. अपने शील में किंचित् भी त्रुटि न रहने देना और ६. आर्य श्रावक को शोभा देने वाली सम्यक् दृष्टि रखना[2]। इस प्रकार बुद्ध ने भिक्षु संघ और गृहस्थ संघ दोनों के ही सामाजिक जीवन के विकास एवं प्रगति के सम्बन्ध में दिशा-निर्देश किया है। इतिवुत्तक में सामाजिक विघटन या संघ की फूट और सामाजिक संगठन या संघ के मेल (एकता) के दुष्परिणामों एवं सुपरिणामों की भी बुद्ध ने चर्चा की है[3]।

बुद्ध की दृष्टि में जीवन के सामाजिक पक्ष का महत्त्व अत्यन्त स्पष्ट था। अंगुत्तर-निकाय मे बुद्ध ने सामाजिक जीवन के चार सूत्र प्रस्तुत किये हैं, जो इस प्रकार हैं:—१. दानशीलता, २. स्नेहपूर्ण वचन, ३. बिना प्रतिफल के किया गया कार्य और

१. उद्धृत-भगवान बुद्ध, पृ० ३१३-१८
२. उद्धृत भगवान बुद्ध, पृ० १६६
३. इतिवुत्तक, २।८-९

४. सभी को एक समान समझना[1]। वस्तुतः बुद्ध की दृष्टि में यह स्पष्ट था कि ये चारों ही सूत्र ऐसे हैं जो सामाजिक जीवन के सफल संचालन में सहायक हैं। सभी को एक समान समझना सामाजिक न्याय का प्रतीक है और बिना प्रतिफल की आकांक्षा के कार्य करना निष्काम सेवा-भाव का प्रतीक है। इसी प्रकार दानशीलता सामाजिक अधिकार एवं दायित्वों की और स्नेहपूर्ण वाणी सामाजिक सहयोग भावना की परिचायक है। बुद्ध सामाजिक दायित्वों को पूरी तरह स्वीकार करते हैं और यह स्पष्ट कर देते हैं कि असंयम और दुराचारमय जीवन जीते हुए देश का अन्न खाना वस्तुतः अनैतिक है। असंयमी और दुराचारी बनकर देश का अन्न खाने की अपेक्षा अग्निशिखा के समान तप्त लोहे का गोला खाना उत्तम है (इतिवुत्तक ३।५।५०)।

बुद्ध ने सामाजिक जीवन के लिए सहयोग को आवश्यक कहा है। उनकी दृष्टि में सेवा की वृत्ति श्रद्धा और भक्ति से भी अधिक महत्वपूर्ण है। वे कहते हैं, भिक्षुओं, तुम्हारे माँ नहीं, तुम्हारे पिता नहीं हैं जो तुम्हारी परिचर्या करेंगे। यदि तुम एक दूसरे की परिचर्या नहीं करते तो कौन है जो तुम्हारी परिचर्या करेगा? जो मेरी परिचर्या करता है उसे रोगी की परिचर्या करना चाहिए।[2] बुद्ध का यह कथन महावीर के इस कथन के समान ही है कि रोगी की परिचर्या करने वाला ही सच्चे अर्थों में मेरी सेवा करनेवाला है। बुद्ध की दृष्टि में जो व्यक्ति अपने माता, पिता, पत्नी एवं बहन आदि को पीड़ा पहुँचाता है, उनकी सेवा नहीं करता है, वह वस्तुतः अधम ही है (सुत्तनिपात ७।९-१०)। सुत्तनिपात के पराभवसुत्त में कुछ ऐसे कारण वर्णित हैं जिनसे व्यक्ति का पतन होता है। उन कारणों में से कुछ सामाजिक जीवन से सम्बन्धित हैं हम यहाँ उन्हीं की चर्चा करेंगे—१. जो समर्थ होने पर भी दुबले और बूढ़े माता-पिता का पोषण नहीं करता, २. जो पुरुष अकेला ही स्वादिष्ट भोजन करता है, ३. जो जाति, धर्म तथा गोत्र का गर्व करता है और अपने बन्धुओं का अपमान करता है, ४. जो अपनी स्त्री से असन्तुष्ट हो वेश्याओं तथा परस्त्रियों के साथ रहता है, ५. जो लालची और सम्पत्ति को बरबाद करने वाले किसी स्त्री या पुरुष को मुख्य स्थान पर नियुक्त करता है ये सभी बातें मनुष्य के पतन का कारण हैं (सुत्तनिपात ६।८, १२,१४, १८, २२)। इस प्रकार बुद्ध ने सामाजिक जीवन को बड़ा महत्व दिया है।

बौद्ध धर्म में सामाजिक दायित्व

भगवान् बुद्ध पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में गृहस्थ उपासक के कर्तव्यों का निर्देश करते हुए दीघनिकाय के सिगालोवाद-सुत्त में कहते हैं कि गृहपति को माता-पिता आचार्य, स्त्री, पुत्र, मित्र, दास (कर्मकर) और श्रमण-ब्राह्मण का प्रत्युपस्थान (सेवा)

---

१. अंगुत्तरनिकाय, II, ३२ उद्धृत—गौतम बुद्ध, पृ० १३२।

२. (ब) विनयपिटक I, ३०२ उद्धृत—गौतम बुद्ध पृ० १३५।

करना चाहिए। उपर्युक्त सुत में उन्होंने इस बात पर प्रकाश डाला है कि इनमें से प्रत्येक के प्रति गृहस्थोपासक के क्या कर्तव्य हैं।

पुत्र के माता-पिता के प्रति कर्तव्य—(१) इन्होंने मेरा भरण-पोषण किया है अतः मुझे इनका भरण-पोषण करना चाहिए। (२) इन्होंने मेरा कार्य (सेवा) किया है अतः मुझे इनका कार्य (सेवा) करना चाहिए। (३) इन्होंने कुल-वंश को कायम रखा है, उसकी रक्षा की है अतः मुझे भी कुल-वंश को कायम रखना चाहिए, उसकी रक्षा करनी चाहिए। (४) इन्होंने मुझे उत्तराधिकार (दायज्ज) प्रदान किया है अतः मुझे भी उत्तराधिकार (दायज्ज) प्रतिपादन करना चाहिए (५) मृत-प्रेतोंके निमित्त श्राद्ध-दान देना चाहिए।

माता-पिता का पुत्र पर प्रत्युपकार—(१) पाप कार्मों से बचाते हैं (२) पुण्य कर्म में योजित करते हैं (३) शिल्प की शिक्षा प्रदान करते हैं (४) योग्य स्त्री से विवाह कराते हैं और (५) उत्तराधिकार प्रदान करते हैं।

आचार्य (शिक्षक) के प्रति कर्तव्य—(१) उत्थान—उनको आदर प्रदान करना चाहिए। (२) उपस्थान—उनकी सेवा में उपस्थित रहना चाहिए। (३) सुश्रुषा—उनकी सुश्रुषा करनी चाहिए। (४) परिचर्या—उनकी परिचर्या करनी चाहिए। (५) विनय पूर्वक शिल्प सीखना चाहिए।

शिष्य के प्रति आचार्य का प्रत्युपकार—(१) विनीत बनाते हैं। (२) सुन्दर शिक्षा प्रदान करते हैं। (३) हमारी विद्या परिपूर्ण होगी यह सोचकर सभी शिल्प और सभी श्रुत सिखलाते हैं। (४) मित्र-अमात्यों को सुप्रतिपादन करते हैं। (५) दिशा (विद्या) की सुरक्षा करते हैं।

पत्नी के प्रति पति के कर्तव्य—(१) पत्नी का सम्मान करना चाहिए। (२) उसका तिरस्कार या अवहेलना नहीं करनी चाहिए। (३) परस्त्री गमन नहीं करना चाहिए (इससे पत्नी का विश्वास बना रहता है)। (४) ऐश्वर्य (सम्पत्ति) प्रदान करना चाहिए। (५) वस्त्र-अलंकार प्रदान करना चाहिए।

पति के प्रति पत्नी का प्रत्युपकार—(१) घर के सभी कार्यों को सम्यक् प्रकार से सम्पादित करती है। (२) परिजन (नौकर-चाकर) को वश में रखती है। (३) दुराचरण नहीं करती है। (४) (पति द्वारा) अर्जित सम्पदा की रक्षा करती है। (५) गृह-कार्यों में निरालस और दक्ष होती हैं।

मित्र के प्रति कर्तव्य—(१) उन्हें उपहार (दान) प्रदान करना चाहिए। (२) उनसे प्रिय-वचन बोलना चाहिए। (३) अर्थ-चर्या अर्थात् उनके कार्यों में सहयोग प्रदान

करना चाहिए । (४) उनके प्रति समानता का व्यवहार करना चाहिए । (५) उन्हें विश्वास प्रदान करना चाहिए ।

मित्र का प्रत्युपकार—(१) उसकी भूलों से रक्षा करते हैं (अर्थात् सही दिशा निर्देश करते हैं) । (२) उसकी सम्पत्ति की रक्षा करते हैं । (३) विपत्ति के समय शरण प्रदान करते हैं । (४) आपत्काल में साथ नहीं छोड़ते हैं । (५) अन्य लोग भी ऐसे (मित्र युक्त) पुरुष का सत्कार करते हैं ।

सेवक के प्रति स्वामी के कर्तव्य—(१) उसकी योग्यता और क्षमता के अनुसार कार्य लेना चाहिए । (२) उसे उचित भोजन और वेतन प्रदान करना चाहिए । (३) रोगी होने पर उसकी सेवा-सुश्रुषा करनी चाहिए । (४) उसे उत्तम रसों वाले पदार्थ प्रदान करना चाहिए । (५) समय-समय पर उसे अवकाश प्रदान करना चाहिए ।

सेवक का स्वामी के प्रति प्रत्युपकार—(१) स्वामी के उठने के पूर्व अपने कार्य करने लग जाते हैं । (२) स्वामी के सोने के पश्चात् ही सोते हैं । (३) स्वामी द्वारा प्रदत्त वस्तु का ही उपयोग करते हैं ।(४) स्वामी के कार्यों को सम्यक् प्रकार से सम्पादित करते हैं । (५) स्वामी की कीर्ति और प्रशंसा का प्रसार करते हैं ।

श्रमण ब्राह्मणों के प्रति कर्तव्य—(१) मैत्री भावयुक्त कायिक कर्मों से उनका प्रत्युपस्थान (सेवा-सम्मान) करना चाहिए । (२) मैत्रीभाव युक्त वाचिक कर्म से उनका प्रत्युपस्थान करना चाहिए । (३) मैत्रीभाव युक्त मानसिक कर्मों से उनका प्रत्युपस्थान करना चाहिए । (४) उनको दान-प्रदान करने हेतु सदैव द्वार खुला रखना चाहिए अर्थात् दान देने हेतु सदैव तत्पर रहना चाहिए । (५) उन्हें भोजन आदि प्रदान करना चाहिए ।

श्रमण ब्राह्मणों का प्रत्युपकार—(१) पाप कर्मों से निवृत्त करते हैं । (२) कल्याणकारी कार्यों में लगाते हैं । (३) कल्याण (अनुकम्पा) करते हैं । (४) अश्रुत (नवीन) ज्ञान सुनाते हैं । (५) श्रुत (अर्जित) ज्ञान को दृढ़ करते हैं । (६) स्वर्ग का रास्ता दिखाते हैं ।[1]

वैदिक परम्परा में सामाजिक धर्म—जिस प्रकार जैन परम्परा में दस धर्मों का वर्णन है उसी प्रकार वैदिक परम्परा में मनु ने भी कुछ सामाजिक धर्मों का विधान किया है, जैसे १. देशधर्म २. जातिधर्म ३. कुलधर्म ४. पाखण्डधर्म ५. गणधर्म[2] । मनुस्मृति में वर्णित ये पाँचों ही सामाजिक धर्म जैन परम्परा के दस सामाजिक धर्मों में समाहित हैं । इतना ही नहीं, दोनों में न केवल नाम-साम्य है, वरन् अर्थ-साम्य भी है । गीता में भी कुलधर्म की चर्चा है । अर्जुन कुलधर्म की रक्षा के लिए ही युद्ध से बचने

---

१. दीघनिकाय—सिगालोपाद, सुत्त ३।७।५ । २. मनुस्मृति १।११८ ।

का प्रस्ताव करता है। जैन और बौद्ध परम्पराओं के समान वैदिक परम्परा भी सामाजिक जीवन के लिए अनेक विधि-निषेधों को प्रस्तुत करती है। वैदिक परम्परा के अनुसार माता-पिता की सेवा एवं सामाजिक दायित्वों को पूरा करना व्यक्ति का कर्तव्य है। देवऋण, पितृऋण और गुरुऋण का विचार तथा अतिथिसत्कार का महत्त्व ये बातें स्पष्ट रूप से यह बताती हैं कि वैदिक परम्परा समाजपरक रही है और उसमें सामाजिक दायित्वों का निर्वहन व्यक्ति के लिए आवश्यक माना गया है।